कामायनी का प्रतिपाद्य

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. जगदीश प्रसाद शर्मा

हिन्दी-विभाग

जोधपुर विश्वविद्यालय

जोधपुर



चिन्मय प्रकाशन

प्रकाशक:—
चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर -३

मुख्य विक्रेता
दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर

मूल्य
६-२५

प्रथम संस्करण
१९६७

मुद्रक
दी यूनाइटेड प्रिंटर्स,
जयपुर

अपनी कामायनी को

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण-दान
विश्व-रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !"

(कामायनी)

प्राक्कथन

कामायनी के 'आमुख' में 'प्रसाद' ने स्पष्ट शब्दों में उसके प्रतिपाद्य की मनोवैज्ञानिकता की चर्चा की है। उन्होंने इस कृति की आधारभूत कथा में मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक इतिहास की सम्भावना मानी है। किन्तु कामायनी के समीक्षको ने उस ओर ध्यान नही दिया है। मनोवैज्ञानिक पक्ष को लेकर अधिक से अधिक यह हुआ है कि उसके सर्गों के नामकरण और उनके पूर्वापर सम्बन्धों की व्याख्या करदी गई है अथवा मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि पात्रों के प्रतीकार्थ का विचार कर लिया गया है, किन्तु इन विभिन्न पात्रों के माध्यम से 'प्रसाद' ने मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक विकास पर जो प्रकाश डाला है और उसके माध्यम से जिस मनोवैज्ञानिक समस्या को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे ही उपस्थित किया है—उस ओर से हमारे समीक्षक अभी तक उदासीन रहे है।

कामायनी के प्रतिपाद्य की व्याख्या के जो प्रयत्न अभी तक हुए हैं उनका आधार प्रायः दार्शनिक रहा है। प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन के सिद्धान्त लेकर उन्हें कामायनी पर घटाया गया है। मेरे विचार से कामायनी के प्रतिपाद्य को समझने का यह सही मार्ग नहीं है क्योंकि दर्शन का सहारा लेते हुए भी 'प्रसाद' ने उसे उलझन का मार्ग ही माना है, सुलझन का नही; जैसा कि कामायनी की निम्न-लिखित पंक्तियो से प्रकट होता है—

> सब कहते हैं–'खोलो खोलो
> छवि देखूंगा जीवन-घन की,'
> आवरण स्वयं बनते जाते
> है भीड़ लग रही दर्शन की।

दूसरी बात यह है कि बने-बनाये सिद्धान्तों को कामायनी पर घटाने मे पूर्वाग्रह भी आजाता है। इसलिए कामायनी में जो कहा गया है उसी का विश्लेषण प्रमुख होना चाहिए और उसी के आधार पर हमे दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से कामायनी के कथ्य का सादृश्य देखना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में यही विधि अपनाई गई है। मूलतः कामायनी की उक्तियो की व्याख्या के आधार पर ही उसके प्रतिपाद्य का विश्लेषण किया गया है। विश्लेषण की पुष्टि के लिए ही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए भी मुझे कही-कहीं दर्शन की सहायता लेनी पड़ी हैं क्योंकि प्रसा[illegible] ने कामायनी में आधुनिक मनोविज्ञान को दर्शन के साथ [illegible] को मनोवैज्ञानिक धरातल पर रखते हुए भी उसको प्राचीन रग देने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्हों ने प्राचीन

स्रोतों से सामग्री और पारिभाषिक शब्दावली ग्रहण की है, किन्तु उसका उपयोग आधुनिक दृष्टि से विज्ञान-सम्मत रूप में किया है। प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन से गृहीत शब्दावली का प्रयोग मनोवैज्ञानिक अर्थ मे किया गया है और दार्शनिक सिद्धान्तों का उपयोग मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इस प्रकार कामायनी का दार्शनिक पक्ष प्रचुरांश में मनोविज्ञान-सापेक्ष है और मनोवैज्ञानिक पक्ष दर्शन-सापेक्ष। इसलिए मनोविज्ञान की दृष्टि से कामायनी की व्याख्या करते समय कहीं-कहीं दर्शन का आश्रय लेना अपरिहार्य होगया है—यद्यपि ऐसी विवशता अधिक नहीं है।

अभी तक हमारे समीक्षक परम्परागत ढंग से मनु को मनका प्रतीक, श्रद्धा को रागात्मिका वृत्ति का प्रतीक और इडा को बुद्धि का प्रतीक मानते चले आये है, किन्तु मनु में मन की किन प्रवृत्तियो और जटिलताओं को आरोपित किया गया है, श्रद्धा किन अर्थों मे रागात्मिका वृत्ति है और इड़ा किस कोटि की बौद्धिकता है और जीवन मे उसका क्या स्थान है तथा काम को प्रसाद ने किन स्तरों पर प्रतिष्ठित किया है-ये प्रश्न कामायनी की समीक्षा के इतिहास में समुचित महत्व नही पा सके है। प्रस्तुत पुस्तक मे सभी प्रमुख प्रतीकों की विस्तृत विवेचना के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धो को परिप्रेक्ष्य की समग्रता में रखकर कामायनी के प्रतिपाद्य को मनोविज्ञान के प्रकाश मे समझने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है कि मेरे इस प्रयत्न से कामायनी के अध्ययन को नई दिशा मिल सकेगी।

इस पुस्तक के पीछे श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सरनामसिंहजी शर्मा की प्रेरणा रही है। उनका आशीर्वाद सदैव मुझे प्रेरित करता रहा है। उनकी कृपा के प्रति जितनी गहराई से मैं कृतज्ञता का अनुभव करता हू उसकी अभिव्यक्ति मे मेरी वाणी अशक्त है।

चिन्मय प्रकाशन के स्वामी श्री ताराचन्दजी वर्मा ने जिस तत्परता के साथ समय पर इस पुस्तक को प्रकाशित किया उसके लिये मैं उनका आभारी हूं। प्रकाशन के क्षेत्र में लेखक के साथ उनका सहयोग वस्तुतः उत्साह-वर्द्धक है।

हिन्दी-विभाग, विश्वविद्यालय,
जोधपुर

जगदीशप्रसाद शर्मा

• • • •

अनुक्रम

——:※:——

कामायनी का प्रतिपाद्य : विभिन्न पक्ष

कामायनी के 'ग्रामुख' में प्रसाद ने अपने प्रतिपाद्य की चर्चा तो अवश्य ही कहीं नहीं की है, किन्तु वहाँ उन्होंने ऐसे अनेक संकेत-सूत्र अवश्य छोड़े हैं जिनके आधार पर उसका अनुमान लगाया जा सकता है। सर्वप्रथम उन्होंने कामायनी की आधारभूत कथा के फलितार्थ की चर्चा की है और अन्त में उन्होंने कामायनी में भी उस फलितार्थ के सन्निहित होने का संकेत किया है। कामायनी की आधारभूत कथा के भिप्रप्रेत अर्थ की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—"आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है, ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंग की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अमिट रहता है; परन्तु कुछ अतिरंजित सा।"[1] इसका अभिप्राय यह हुआ कि कामायनी की आधारभूत कथा में 'प्रसाद' ने मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक विकास का प्रागैतिहासिक रूप देखा है। उन्होंने कामायनी की आधारभूत कथा में निहित रूपक में मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास के रूपक की संभावना को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता के विकास का रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।"[2] आधारभूत कथा के इस संकेतार्थ को स्वीकार करते हुए कवि ने अपने पाठकों को उनका प्रतीकार्थ ग्रहण करने की छूट भी दे दी है—"इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"[3]

कामायनी की आधारभूत कथा में निहित रूपक की सम्भावना और उसके सम्बन्ध में कामायनी के पाठक को दी गई छूट से यह संकेत मिलता है कि कामायनी की रचना करते समय प्रसाद की दृष्टि कथा की ऐतिहासिकता के साथ-ही-साथ उसकी रूपकात्मकता पर भी रही है। कथा का रूपक मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक विकास से संबंधित है। समग्र रूप में कामायनी की कथा में मनुष्य जाति का विकास देखने के साथ प्रसाद की दृष्टि पात्रों के व्यक्तित्व से संकेतित उनके स्फुट प्रतीकार्थ पर भी रही है अर्थात् मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास में श्रद्धा की भूमिका के अंकन के साथ स्वतन्त्र रूप से उसका स्वरूप-चित्रण भी प्रसाद को अभीष्ट रहा है। यही बात इड़ा के सम्बन्ध में भी

१—कामायनी, पृ. ४,
२—वही, पृ. ४,
३—वही, पृ. ७,

कही जा सकती है। इस अनुमान का आधार यह है कि आमुख में कवि ने एक स्थान पर कथा के रूपक की समग्रता का विकासात्मक दृष्टि से उल्लेख करने के उपरान्त पात्रों के प्रतीकार्थ की विस्तृत चर्चा स्वतन्त्र रूप से एवं विकासवादी दृष्टि से निरपेक्ष रह कर की है। इसके साथ ही श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा के मुख से मनु को सृष्टि-विकास की प्रेरणा दिलाते हुए यह भी कहलवाया है—

> चेतना का सुन्दर इतिहास—
> अखिल मानव भावों का सत्य
> विश्व के हृदयपटल पर दिव्य
> अक्षरों से अंकित हो नित्य।" [1]

उपर्युक्त पद्य में चेतना के ऐतिहासिक विकास के साथ मानव-भावों के सत्य अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूप के अंकन की बात भी कही गई है जो कामायनी के प्रतिपाद्य की ओर संकेत करती जान पड़ती है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या आदि के आधार पर सर्गों के नामकरण तथा उनके अन्तर्गत कहीं-कहीं कथा से निरपेक्ष रूप में भी, भावों के स्वरूपाकन से इस अनुमान की पुष्टि होती है। इसी बात को लक्ष्य कर पं० नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"आज का मनुष्य और आज की नारी इतिहास की उपज है, उसमें कृत्रिम प्रवृत्तियो और संस्कारो का मेल हो गया है, इसलिए समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव-प्रवृत्तियो के उद्घाटन मे प्रसादजी संलग्न हुए हैं। नवीन विज्ञान का कहना है कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का परिचय और परिज्ञान तथा उक्त प्रकृति के आधार पर उसके जीवन-विधान का निरूपण मानव-प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रसादजी कामायनी काव्य मे इस तथ्य को मानकर मूल मानव-प्रकृति के उद्घाटन मे प्रवृत्त हुए हैं।" [2]

उपर्युक्त उद्धरण को सावधानी के साथ ग्रहण करने की आवश्यकता है। वाजपेयीजी ने जो यह लिखा है कि "समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव-प्रवृत्तियों के उद्घाटन में प्रसादजी संलग्न हुए हैं" उसका आशय संभवतः यह नहीं है कि प्रसादजी ने मानव-मनोवृत्तियों के ऐतिहासिक और काल-सापेक्ष्य विकास का अंकन नहीं किया है, उसका अभिप्राय संभवतः यही है कि उनके मूलरूप का अंकन भी प्रसादजी ने कामायनी में किया है। इस प्रकार कामायनी में एक ओर मनुष्य जाति का मनोवैज्ञानिक विकास चित्रित किया है तो दूसरी ओर काल-निरपेक्ष दृष्टि से मानव-प्रवृत्तियों का स्वरूपांकन भी उन्होंने वहां स्वतंत्र रूप से किया है।

---

१. कामायनी पृ. ६८
२. पं. नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ. १०७

द्वितीय प्रयोजन प्रधानतः साधन-रूप में ग्रहण किया गया है। जहाँ उन्होंने विभिन्न मानव-वृत्तियों का स्वतन्त्र अंकन किया है वहाँ उनको जीवन के चरम मूल्य आनन्द–जो निश्चित रूप से शैव-दर्शन के प्रभाव का परिणाम है-में उनकी साधकता या बाधकता की दृष्टि से उनका निरूपण किया गया है। समस्त कथा का क्रम-संयोजन, पात्रों और प्रतीकों का पारस्परिक सम्बन्ध और शैव-दर्शन से प्रेरित अनेक प्रसंगों एवं सैद्धांतिक कथनों का समावेश इस बात का साक्षी है। यह आनन्दवादी सिद्धान्त यद्यपि शैव-दर्शन से गृहीत है, फिर भी प्रसाद ने उसे व्यावहारिक दृष्टि से देखा है[1] और मनोवैज्ञानिक आधार पर उसके साधक एवं बाधक तत्वों का निरूपण कामायनी मे किया है।

इस प्रकार कामायनी के प्रतिपाद्य के तीन पक्ष दिखलाई देते हैं—(१) विभिन्न मानव-वृत्तियों का इतिहास-निरपेक्ष एवं समग्र रूपक से स्वतन्त्र स्वरूपांकन, (२) मानव-वृत्तियों के स्वरूपांकन के माध्यम से मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक विकास का चित्रण और (३) जीवन की चरम उपलब्धि आनन्द की साधना मे विभिन्न मानव-वृत्तियों की अनुकूल-प्रतिकूल भूमिका।

कामायनीकार ने मनुष्य जाति का मनोवैज्ञानिक इतिहास उपस्थित करते हुए उसकी जिस युग-युगीन यात्रा का चित्रण किया है उसका गन्तव्य 'आनन्द' है। इस 'आनन्द' की साधना में लीन मनुष्य जाति के जिन प्रयत्नों और उसके मार्ग की जिन बाधाओं का निरूपण यहाँ किया गया है, वे इतिहास-सापेक्ष तो हैं, किन्तु उनके द्वन्द्व का अन्त आज भी नहीं हुआ है, आज के मनुष्य के भीतर भी विभिन्न स्तरों पर यह संघर्ष जीवित है—ठीक उसी प्रकार जैसे ऐतिहासिक देवासुर-संग्राम मनु के जीवन में नये सिरे से जागता है—

> यह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन।[2]

इस प्रकार प्रसाद ने जिस कथा को मनुष्य जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास के रूप में देखा है उसका उपस्थापन समस्यामूलक रूप से किया है। इसलिए कामायनी

१—प्रसादजी ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के उक्त विचारों को काव्य का रूप देकर 'कामायनी' में उन्हें इस तरह चित्रित किया है कि जिससे वे विचार-दर्शन और काव्य-दोनों का समन्वित रूप प्रकट करते हुए व्यावहारिक होकर मानव-जीवन के अत्यन्त निकट आ गए हैं और जिन्हें अपना कर मानव इसी जीवन एवं इसी जगत् में अलौकिक सुख एवं अखंड आनन्द प्राप्त कर सकता है।

—डॉ द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, "कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन" पृ

२—कामायनी, पृ० १७३

की केन्द्रीय समस्या आनन्द की उपलब्धि की समस्या है। कामायनी के पात्रों का स्वरूपांकन तथा कथा का संयोजन कुछ ऐसे ढंग से किया गया है जिससे इस चिरंतन समस्या पर कवि समस्यामूलक एवं विकासात्मक दोनों ही दृष्टियों से प्रकाश डाल सका है।

इसलिए कामायनी के फलितार्थ को समझने के लिए पहले विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व-विश्लेषण द्वारा उसकी केन्द्रीय समस्या का विवेचन और तदुपरान्त कथा-संयोजन के अनुशीलन द्वारा प्रतिपाद्य की उपलब्धि के युग-युगीन प्रयत्नों के विकास की शोध समीचीन होगी।

मूलतः आनन्द की समस्या को दृष्टि-पथ में रखते हुए भी कामायनीकार ने प्रासंगिक रूप से कहीं-कहीं नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा भी सामाजिक दृष्टि से की है। अतएव कामायनी के रूपक के अन्तर में निहित मनोवैज्ञानिक फलितार्थ के उद्घाटन के साथ नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों का विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कामायनी के नायक-नायिका कहीं-कहीं सनातन पुरुष और सनातन नारी के प्रतीक रूप में उपस्थित किये गये हैं। बहुत सम्भव है कि नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों के विचार की प्रेरणा कामायनीकार को शैव-दर्शन के शिव-शक्ति या पुरुष-प्रकृति के द्वन्द्व से भी मिली हो, ठीक उसी प्रकार जैसे कि उसे 'आनन्द' की समस्या के निरूपण की प्रेरणा आधुनिक मनोविज्ञान के परिपार्श्व में शैव-दर्शन से ही मिली है।

कामायनी का आनंदवाद औरशैवदर्शन

कामायनी में जिस आनंद की अवतारणा की है उसकी पृष्ठभूमि में शैव-दर्शन है। कामायनी में शैव-दर्शन की शब्दावली का बहुशः प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे शक्ति-शरीरी, चिति, महाचिति, त्रिपुर, स्पद, पशु, पुरुष, समरसता[१] आदि। इसके साथ ही रूपकों का प्रयोग भी शैव-दर्शन से गृहीत जान पड़ता है,[२] जैसे—

निज शक्ति तरंगायित था
आनंद अम्बुनिधि शोभन।[३]

---

१. डा० फतहसिंह ने कामायनी सौन्दर्य, पृष्ठ २४५-६१ में, तथा डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० ४१५–२५ मे इसी आधार पर कामायनी में प्रत्यभिज्ञा शैव-दर्शन की गवेषणा की है।
२. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० ४५७
३. कामायनी, पृ० २६८

यहां तक कि कुछ प्रसंगों का चित्रण भी शैव-दर्शन के आधार पर किया गया है, जैसे नटराज का नृत्य आदि,[1] फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि कामायनी में प्रसाद ने शैव-दर्शन को कवित्वमय बनाकर उपस्थित किया है। जिस आनंद की चर्चा शैव-दर्शन में की गई है वह कुछ भिन्न प्रकार का है—उसका धरातल व्यावहारिक नहीं, धार्मिक है ! शैव-दर्शन में आनन्दविषयक जो विभिन्न उक्तियां मिलती हैं,[2] उनका सार यह है कि शिव और शक्ति के सम्मिलन से उत्पन्न आनन्द में समरसता द्वारा लीन होने की अवस्था आनंद की उपलब्धि की अवस्था है। प्रसाद ने अपने 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में शैवों के आनन्दवाद की थोड़ी चर्चा की है। उस चर्चा से भी शैवों का आनन्दवाद भिन्न कोटि का दिखलाई देता है। प्रसाद ने वहां क्षेमराज की यह पंक्ति उद्धृत की है।[3]

विगलितभेदसंस्कारमानंदरसप्रवाहमयमेव पश्यति।

इस प्रसंग में प्रसाद ने लिखा है—"बृहदारण्यक श्रुति का अनुकरण करके समता के आधार पर भक्ति और प्रणय की-सी मधुर कल्पना भी की। क्षेमराज ने एक प्राचीन उदाहरण दिया—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः।"[4]

इस सम्बन्ध में शैव-दर्शन से अनेक उदाहरण देते हुए प्रसाद ने यह प्रतिपादित किया है कि शैवों का आनंदवाद इन्द्रियभोग की सीमा तक चला गया था। प्रसाद द्वारा उद्धृत पंक्तियों में आत्मतुष्टि द्वारा—जिसमें इन्द्रियों की तुष्टि भी सम्मिलित है—शिव की पूजा का विधान है।

शांकरी मानस पूजा से प्रसाद ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है[5]—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।

और 'किसी काश्मीरी भक्त कवि' की यह उक्ति भी उन्होंने उद्धृत की है[6]—

तत्तदिन्द्रियसुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्निव भवेदुन्मदः॥

---

१. डा० फतहसिंह कामायनी-सौन्दर्य, पृ० २१४
२. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, 'कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन,' पृ० ४५१
३. जयशंकरप्रसाद 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पृ० ५५
४. वही, पृ० ५६
५. वही, पृ० ५७
६. वही, पृ० ५८

... नागरी भण्डा
पुस्तकालय एवं वाचनालय

निस्सन्देह कामायनी का आनन्दवाद इस कोटि का नहीं है जिसमें क्षेमराज द्वारा उल्लिखित मैथुन भाव हो या शांकरी पूजा द्वारा प्रतिपादित विषयोपभोग रूपी पूजा का विधान हो या काश्मीरी भक्त कवि द्वारा निर्दिष्ट इन्द्रिय-सुख से निरन्तर अर्चना के साथ सर्वभाव-चषक से उन्मत्त होने की कल्पना हो।

इसी प्रकार कामायनी का समरसता-सिद्धान्त भी ठीक वही नही है जो शैव-दर्शन का समरसता-सिद्धान्त है। शैव-दर्शन में समरसता का अभिप्राय है-परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाना-उसमे घुल मिल जाना; अथवा जीव का परमात्मा के साथ रमण जिससे उभय पक्षों में समान आनंद की सृष्टि हो-प्रथम दृष्टिकोण स्वच्छन्दतंत्र का है जिसमे कहा गया है कि "जैसे एक नदी समुद्र मे मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथक्ता या भिन्नता नही रहती, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मा-भाव को प्राप्त होकर पूर्णत: एक शिव रूप हो जाती है, उसे सामरस्य कहते हैं।"[1] नेत्रतंत्र में भी उसी से मिलती-जुलती बात कही गई है। दूसरा दृष्टिकोण श्री नरहरि स्वामी का है जिन्होने बोधसार में लिखा है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥[2]

कामायनी का समरसता सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों से भिन्न है। वहाँ समरसता व्यावहारिक सामंजस्य की वाचक है-आत्मा-परमात्मा के ऐकात्म्य की ही नहीं। अतएव कामायनी के अभिप्रेत अर्थ को समझने मे शैव-दर्शन दूर तक हमारी सहायता नही कर सकता। आश्चर्य तो यह है कि 'आमुख' में भी प्रसाद ने कहीं शैव-दर्शन का उल्लेख नही किया, फिर भी समीक्षक प्राय: शैव-दर्शन के सहारे कामायनी की व्याख्या का प्रयत्न करते रहे हैं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि जब प्रसाद ने शैव-दर्शन को कामायनी का आधार नही बनाया है, तब उसकी शब्दावली, उसके रूपकों और उसकी कतिपय घटनाओं का अन्तर्भाव कामायनी मे क्यों किया है? इसका उत्तर यही प्रतीत होता है कि प्रसाद ने मनोविज्ञान के परिपार्श्व में जिस समस्या को कामायनी मे उठाया है उसकी ओर संकेत उन्हें शैव-दर्शन में भी मिला है और वहाँ उन्हें ऐसे अनेक प्रतीक भी मिले हैं जिनके सहारे वे अपनी बात अधिक सुगमतापूर्वक कह सकते हैं। स्वयं शिव एक ऐसे प्रतीक हैं जिनमें जीवन की विषमताओं के मध्य सामंजस्य (प्रसाद की समरसता, शैव-दर्शन की नही) से उत्पन्न आनंद मूर्त रूप में दिखलाई देता है। इसी प्रकार शैव-दर्शन का चिति—

१. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, 'कामायनी मे काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० ४५१
२. वही, पृ० ४५२

शब्द चेतनाके व्यापकप्रसार के ध्वनन के लिए बहुत उपयोगी है। समरसता के रूप में उन्हें जीवन-सामंजस्य के द्योतन के लिए एक बहुत अच्छा शब्द शैव-दर्शन मे मिल गया है। नटराज का नृत्य आनंद की स्थिति को मूर्त रूप देने के लिए शैव-दर्शन से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार प्रसाद ने अपनी बात कहने के लिए प्रतीकों, पारिभाषिक शब्दो, विशेष अवस्थाओं आदि के रूप में शैव दर्शन से अनेक उपादान अवश्य ग्रहण किये हैं, किन्तु उन्होने शैव-दर्शन को ही नहीं दोहराया है—उससे गृहीत उपादानों के माध्यम से उन्होंने अपनी बात कही है। अपनी बात कहने के लिए उन्होंने अन्य स्थानों से भी उपादानों का संग्रह किया है। उदाहरण के लिए परमाणु-कल्पना आधुनिक विज्ञान से ग्रहण की गई है। इसी प्रकार समर्थ के जीवन-रक्षण (Survival of the fittest) का सिद्धान्त विकासवाद से गृहीत है। इसलिए यह सोचना समीचीन नहीं है कि कामायनी में शैव-दर्शन को काव्य का रूप दिया गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित आनंदवाद ही शैव-आनंदवाद से भिन्न कोटि का है—उसके उत्थापन में उन्होंने शैव-दर्शन से कहीं सहायता भले ही ली हो।

प्रसाद की प्रकृति पुरान्वेषिणी रही है। आधुनिक जीवन की समस्याओं को भी उन्होंने प्राचीन परिपार्श्व में उपस्थित किया है। मोक्ष या तलाक के लिए उन्होंने मनुस्मृति के बल पर ध्रुवस्वामिनी की रचना की है। इसी प्रकार आज के भौतिक-बौद्धिक जगत् के मध्य आनन्द की समस्या को उन्होंने शैव-दर्शन से गृहीत उपादानों के सहारे मनु की कथा में आकार प्रदान किया है। कामायनी में शैव-दर्शन से गृहीत उपादान साधन भर रहे हैं-साध्य नहीं। इसीलिए वहां शैव-दर्शन के सभी तत्वों का अन्तर्भाव नहीं है-कामायनी को वहां तक घसीट ले जाया जाए यह दूसरी बात है। शैव-दर्शन कामायनी के चिन्तन-पक्ष का एकमात्र आधार भी नहीं है। अतएव कामायनी के फलितार्थ की गवेषणा करते समय विभिन्न प्रतीकों और प्रतिमानों को कामायनी के संदर्भ में ही देखना उचित है-चाहे वे कहीं से गृहीत हों—क्योंकि प्रसाद ने उनका उपयोग अपने ढंग से किया है। प्रभाव को प्रभाव ही समझना चाहिए, आधार नहीं।

अध्याय २

मनु : प्रतीक-विश्लेषण

कामायनी मनु की कथा है। ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक दोनों ही दृष्टियों से मनु को संघर्ष का केन्द्र बनाकर कामायनी की सृष्टि की गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रलयोपरान्त मनु के जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ होने के साथ कामायनी की कथा प्रारम्भ होती है और उनके जीवन के उत्थान-पतन-सामंजस्यविहीनता और सामंजस्य की शोध के साथ कथा आगे बढ़ती है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनु अंगी हैं और श्रद्धा और इड़ा उनके अंग मात्र हैं। जैसा कि कामायनीकार ने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है—"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"[१] कामायनी की कथा में कभी मन का एक अंग प्रबल होता है तो कभी दूसरा, किन्तु अंगी मन (मनु) की प्रमुखता सर्वत्र अव्यवहित रहती है। इसलिए इस विषय में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि कामायनी नायक-प्रधान है अथवा नायिका-प्रधान। इतना अवश्य है कि कामायनी में उत्कर्ष नायिका का दिखलाया गया है, नायक का नहीं, किन्तु प्राधान्य नायक का ही है। जो विद्वान् कामायनी को नायिका-प्रधान मानते हैं[२] वे प्राधान्य और उत्कर्ष के भेद की ओर प्रायः ध्यान नहीं देते। कामायनी में इस भेद को समझना बहुत आवश्यक है क्योंकि कथा की मूल समस्या नायक से संबंधित होने के कारण वह नायक-प्रधान बन गई है जबकि समस्या का समाधान नायिका से सम्बंधित होने के कारण नायक की तुलना में नायिका का उत्कर्ष निरंतर बना रहा है। इसलिए कामायनी में प्रसाद के मन्तव्य को समझने के लिए सर्वप्रथम मनु और मनु के प्रतीकार्थ को समझना होगा।

'आमुख' का अन्तर्विरोध

कामायनी के 'आमुख' में प्रसाद ने मनु के प्रतीकार्थ के संबंध में दो भिन्न-भिन्न बातें कही हैं। एक स्थान पर उन्होंने मनु को मनन का प्रतीक बतलाया है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता के विकास का रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है।"[३] वहीं आगे चलकर उन्होंने मनु को मन का प्रतीक बतलाया है—'मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष' हृदय और मस्तिष्क का सम्बंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।[४] इस अन्तर्विरोध से कामायनी के अध्येता के

---

१ कामायनी, आमुख, पृ० ७।
२ पं० नंददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य,' पृ० १२० (सं० २०१८)
३ कामायनी, आमुख, पृ० ४
४ वही, पृ० ७

अन्तर्विरोध यह कठिनाई उठ खड़ी होती है कि यह कामायनी का फलितार्थ समझने के लिए मनु को किसका प्रतीक मानें—मन का या मनन का ? मन और मनन दोनों की अभिन्नता का प्रश्न तो उठता ही नहीं है । तब इस अन्तर्विरोध का समाधान कैसे हो ?

इस प्रश्न पर विचार करते समय इस तथ्य की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि 'आमुख' में प्रसाद ने रूपक की जो चर्चा की है उसका सम्बंध कामायनी के रूपक से न होकर कामायनी की कथा के स्रोतों में संकेतित रूपक से है । वहाँ वे आधार-ग्रंथों में दिखलाई देने वाले रूपक की बात कह रहे हैं—यह बात उनके इस वाक्य से स्पष्ट हो जाती है—'इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की कथा-सृष्टि हुई है ।'[१] इन आधार-ग्रंथों में कामायनी की कथा के सूत्र कवि को बिखरे हुए मिले थे—सुसम्बद्ध नहीं । कवि ने उन्हें विभिन्न स्रोतों से बटोरा है ।[२] इसलिए आधार-कथा में रूपकत्व का आभास मिलते हुए भी कवि के समक्ष इस सम्बंध में एक अनिश्चितता-सी बनी रही है । इसलिए आधार-कथा में रूपकत्व की बात प्रसाद ने बड़ी हिचकिचाहट के साथ उठाई है । यह हिचकिचाहट उनके कुछ वाक्यों में स्पष्ट रूप से झलक रही है—

(१) श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकासकी कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है । इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष मानना ही उचित है ।[३]

(२) 'मनु', श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं ।[४]

(३) यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता के विकास का रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है । यह मनुष्य का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है ।[५]

ऊपर उद्धृत उक्तियों में से प्रथम में आधार-ग्रंथों में उपलब्ध कथा में रूपकत्व को कवि जैसे स्वीकार ही नहीं करना चाहता, किन्तु निरुक्त द्वारा किये गये प्रयत्न के

---

१. वही, पृ० ८ ।

२. कामायनी का आमुख और डा० फतहसिंह की पुस्तक 'कामायनी-सौन्दर्य' ।

३. कामायनी, आमुख, पृ० १ ।

४. वही, पृ० ७ ।

५. वही, पृ० ४ ।

कारण उसे एकदम अस्वीकार करने का साहस भी कवि को नहीं होता। द्वितीय उद्धरण में रूपक की सम्भावना का अनुमान मात्र दिखलाई देता है और अन्तिम उद्धरण में वह उदासीन भाव से रूपक की बात स्वीकार करता प्रतीत होता है।

वस्तुत: आमुख में कवि कामायनी की कथा के स्रोतों में रूपकत्व की संभावनाओं का विचार करता रहा है–उनमें अंतर्निहित रूपक का विश्लेषण उसका अभीष्ट नहीं रहा है। इसलिए आरम्भ में मनु को मनन का प्रतीक मानने की जो बात प्रसाद ने कही है, वह एक सभावना मात्र है जो अन्त तक पहुंचते पहुंचते बदल गई है और अन्त में कवि ने जहां कामायनी की कथा-सृष्टि के आधार का स्पष्ट उल्लेख किया है वहां उसने अपेक्षाकृत अधिक निश्चित स्वर में मनु को मन का प्रतीक माना है। इसलिए कामायनी के मनु के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रसाद के प्रथम अनुमान को (कि मनु मनन के प्रतीक हो सकते हैं) छोड़कर चलना होगा।

मनु के स्वरूप-विश्लेषण के लिए अच्छा तो यह होगा कि थोड़ी देर के लिए आमुख की बात ही भुला दी जाए और कामायनी में स्वयं मनु द्वारा दिए गए परिचय तथा उनके सम्बन्ध में बिखरी हुई विभिन्न उक्तियों एवं उनकी गतिविधि के आधार पर उन्हें समझने का प्रयत्न किया जाए।

कामायनी के आरम्भ में मनु के स्वगत कथनों से उनके सम्बन्ध में इतना ही पता चलता है कि वे प्रलय में विनष्ट विलास-प्रधान देव जाति के ध्वंसावशेष हैं।

आज अमरता का जीवित हूं
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह! सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय सा विष्कंभ।[1]

एक विस्मृति का स्तूप अचेत

इस उक्ति से मनु का ऐतिहासिक परिचय ही मिलता है, मनु के प्रतीकार्थ पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सर्वप्रथम श्रद्धा सर्ग में मनु के प्रतीकार्थ की ओर ध्यान दिया गया है। जब श्रद्धा मनु से उनका परिचय पूछती है तब उसके उत्तर में मनु कहते हैं[2]–

एक विस्मृत का स्तूप अचेत
ज्योति का धुंधला सा प्रतिबिम्ब,

१. कामायनी, पृ० २८।
२. वही, पृ० ५५।

और जड़ता की जीवन-राशि,
सफलता का संकलित विलम्ब। [1]

संदर्भ के अनुसार मनु का यह उत्तर एक ओर जहां इतिवृत्त के परिप्रेक्ष्य में उनका परिचय देता है वही दूसरी ओर मनु के प्रतीकार्थ की ओर भी संकेत करता है। लगभग सभी भारतीय दर्शनों मे समस्त सृष्टि मे अन्तर्व्याप्ति एक महाचेतना, महाचिति अथवा विराट् जीवन का तत्व की चर्चा मिलती है। व्यष्टि इसी महाचेतना का एक अंश है और व्यष्टि-मानस भी उसी महाचिति की आंशिक अभिव्यक्ति है। मन उसी महाचिति के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है, वह स्वयं प्रकाश रूप नहीं है। मन जड़ है, किन्तु वह आत्मा के चैतन्य तत्व को प्रतिभासित करता है—इसीलिए उसे 'जड़ता की जीवन-राशि' और ज्योति का धुंधला सा प्रतिबिम्ब कहा गया है। वह आत्मा के सच्चे स्वरूप का विस्मरण कराता है इसलिए वह 'विस्मृति का स्तूप अचेत' है।

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की एतद्विषयक मान्यताओं पर दृष्टिपात करने से उपर्युक्त पद्य में अन्तर्निहित प्रतीकार्थ एकदम स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त आत्मा की ही स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है और आत्मा से भिन्न जड़ या वस्तु विश्व को वह अज्ञान का कार्य समझता है। मन इस मूलभूत अज्ञान का एक कार्य है। स्वयं प्रकाश आत्मा को अज्ञान से परिच्छिन्न होने पर जीव का रूप प्राप्त होता है।[2] इस उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि आत्मा सर्वव्यापी चेतन सत्ता की वाचक है। मन इस व्यापक चेतन सत्ता के व्यक्ति में परिसीमित अंश को ही प्रकाशित करता है और इस प्रकार व्यक्ति-चेतना को जन्म देता है जो उस व्यापक चेतन सत्ता के परिज्ञान में बाधक बनती है। वेदान्त-दर्शन में ही यह बात बहुत स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि मन अचेतन या जड़ है और आत्मा को प्रतिबिम्बित कर सकने की क्षमता के कारण ही वह चेतन जैसा दिखलाई देता है। वेदान्त मन को अचेतन या जड़ मानता है। आत्मा चैतन्य का तत्व है और वह मन से भिन्न है। विषयी स्वरूप या चेतनता आत्मा में ही होती है, मन में नहीं।[3]...... मन जड़ होते हुए भी स्थूल द्रव्य न होकर अतिसूक्ष्म द्रव्य ही है। इसमें आत्मा को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता होती है और इसी कारण यह चेतन जैसा दिखलाई पड़ता है।[4]

कामायनी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली प्रत्यभिज्ञा दर्शन से अधिक मिलती है। "शिवसूत्रों में चैतन्यात्मा कहकर आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना गया है''......और इसी

---

१ कामायनी पृ० ५६
२ भारतीय मनोविज्ञान, पृ० ६१।
३ वही, पृ० ८०।
४ वही, पृ० ८१।

कारण प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः' कहकर इस चिदात्मा को सर्वथा स्वतंत्र एवं विश्व की निष्पत्ति अथवा विश्व के प्रकाशन का कारण माना गया है तथा 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' कहकर इस चिति को अपनी इच्छा में स्वतंत्रतापूर्वक अपनी भित्ति पर ही अर्थात् अपने अन्तर्गत ही विश्व का उन्मीलन करते हुए कहा गया है। अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह दर्पण में नगर, वृक्ष आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी भाँति इस चिदात्मा मे संसार का प्रकटीकरण होता है और जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्बित नगर, वृक्ष आदि दर्पण से पूर्णतया अभिन्न रहते है, उसी प्रकार यह संसार भी चिद्शक्ति से पूर्णतया अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है।[1]——जब यह आत्मा आणव, कार्म तथा मायीय नामक तीन प्रकार के मलों एवं तीन प्रकार के कंचुकों अर्थात् आणव मल वाले प्रथम कंचुक से मलाधिष्ठायक, निरोध शक्ति नामक द्वितीय कचुक से तथा तीनों प्रकार के मलों से युक्त माया नामक तृतीय कंचुक से आवृत रहता है, तब इसे जीव संज्ञा प्राप्त होती है।[2]······ वैसे तो जीव भी आत्मा ही है। इसीलिए वह आत्मा की भाँति स्वतंत्र व्यापक, सूक्ष्म, निर्गुण आदि है। परन्तु आणव, कार्म तथा मायीय तीनों मलों से आवृत होने के कारण यह मलिन, अस्वतंत्र, अशुद्ध आदि हो जाता है।"[3]

उपर्युक्त उद्धरण का सार यह है कि—

(१) आत्मा सर्वव्यापी चिति या महाचिति है।

(२) इस चिति का उन्मीलन ही सृष्टि है। प्रतिबिम्बवत् इस चिदात्मा में संसार प्रकट होता है।

(३) मलो एवं कंचुकों से आवृत आत्मा जीव है। मलो से वह मलिन हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन मे यह भी कहा गया है कि यह जीव इस भूत जगत् तक सीमित रहकर अपने को समस्त सांसारिक क्रियाओ का कर्ता मानता है तथा षट् कंचुको से संकुचित रहता है। इसी कारण इसे प्रमाता, अणु, पुमान् आदि भी कहते हैं।[4]

व्यक्ति–चेतना

प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रकाश में देखने से मनु के स्वरूप की व्याख्या में कामायनी का उपर्युक्त पद्य बहुत सहायक हो सकता है। चैतन्य स्वरूप आत्मा कंचुकावृत होने पर अपनी विराट् सत्ता का विस्मरण कर अपने व्यष्टि रूप को ही कर्ता समझने

---

१. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० ४२७–२६।
२. वही, पृ० ४२६।
३. वही, पृ० ४३०–३१
४. वही, पृ० ४२६।

लगता है। इस प्रकार वह अपने यथार्थ रूप का विस्मरण कर देता है—'विस्मृति का स्तूप अचेत' कहकर कवि ने इस ओर संकेत किया है। समस्त सृष्टि चिदात्मा का आभासन या उसमें आभासित प्रतिबिम्ब है—इसलिए जीव या व्यक्ति-चेतना भी उस चिदात्मा का ही प्रतिबिम्ब है, किन्तु मलों से आवृत होने के कारण वह मलिन हो गया, इसलिए ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब है।

इस प्रकार वेदान्त और प्रत्यभिज्ञा दर्शन दोनों दृष्टियों से मनु विराट चेतन सत्ता के परिसीमित अंश के प्रतीक हैं जो अपने यथार्थ रूप का विस्मरण कर चुका है। दार्शनिक गुत्थियों से निकलकर यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि सर्वव्यापी महाचिति का वह अंश जो व्यक्ति की सीमाओं में घिरा है—उसी का प्रतिनिधित्व कामायनी के मनु करते हैं। व्यावहारिक शब्दावली में मनु व्यक्ति-चेतना के प्रतीक हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की शब्दावली में इसे ही पुरुष कहा गया है—यह अणु-संज्ञा वाली आत्मा ही बारहवां तत्व पुरुष कहलाती है।[1] कामायनी के प्रथम छंद में मनु को एक पुरुष कहकर इसी अणु आत्मा जीव या व्यक्ति-चेतना की ओर कवि ने संकेत किया है—

एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह[2]

वेदान्त में इस व्यक्ति-चेतना को अहंकार की संज्ञा दी गई है, जो अंतःकरण-चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का एक अंग मात्र है, किन्तु महाभारत के अनुसार मन ही एक अंतःकरण है।[3] इस प्रकार अहंकार का अन्तर्भाव मन में हो जाता है। यह भी कहा गया है कि अहंकार मन की एक वृत्ति मात्र है।[4] सांख्य ने अहंकार (व्यक्तिचेतना) से ही मन को उद्भूत माना है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों का ध्यान मन की व्यक्तिपरकता की ओर अवश्य रहा है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी मन की व्यक्तिपरकता का समर्थन होता है। जार्ज ट्रम्बुल लाड के मतानुसार मन की यथार्थता स्व-विषयक चेतना में निहित है।[5]

---

१. डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० ५४० ।
२. कामायनी, पृ० १३ ।
३. भारतीय मनोविज्ञान, पृ० २४ ।
४. वही, पृ० ७१ ।
5. The reality of mental life consists of actual mentality, it is the really being self conscious, self active, knowing, remembering and thinking as mind.
—George Triunbull Lodd, Philosophy of Mind, p. 145.

मन का बोध व्यष्टि रूप में ही होता है ।[1]

कामायनी में मनु का जो चित्र अंकित किया गया है उसमें उनकी व्यक्ति-चेतना की प्रबलता बहुत स्पष्ट है। मनु तथा अन्य पात्रों की अनेक उक्तियों में मनु की स्वविषयक चेतना का उल्लेख मिलता है । अपने जीवन के घात-प्रतिघात से विकल मनु एकांत क्षणों में अपनी प्रकृति की समीक्षा करते हुए अपनी स्वेच्छाचारिता की बात सोचते हैं—

मैं तो अबाध गति मरु सदृश हूं चाह रहा अपने मन को
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पल में कम्पन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग ।[2]

एक ओर वे अपनी स्वेच्छाचारिता की बात स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर वे 'अपने सुख' को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं—

तुच्छ नहीं हैं अपना सुख भी,
श्रद्धे वह भी कुछ हैं,
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम सब कुछ है ।[3]

इसी प्रकार वे अपनी आधिपत्यप्रियता को अधिकार रूप में प्रस्तुत करते हैं । वे इच्छित वस्तु या व्यक्ति पर अपना निर्बाध अधिकार चाहते हैं—

इड़े मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ ।[4]

---

1. The peculiar, the only intelligible and indubitable reality which belongs to mind is its being for itself, by actual function of self consciousness of recognitive memory, and of thought. Its real being is just this "for self—being." Every mind, by living processes, perceptually constitutes its own being, and knows itself as being real. To be self conscious, and to think of the self as having actually or possibly, been self conscious, this is really to be as minds are. IBid, p. 147

२ कामायनी, पृ० १६६ ।
३ वही, पृ० १४० ।
४ कामायनी पृ० २०६ ।

स्वायत्व की इस इच्छा के परिणामस्वरूप ही मनु संसार की समस्त सुन्दर विभूति पर अपना अधिकार चाहते हैं—

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान,
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित वाडव-वह्नि नितय अशांत,
सिन्धु लहरों सा करें मुझे सब शांत।[१]

मनु की यह स्वायत्त-लालसा मन की घोर व्यक्तिवादी और स्वार्थी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। यहां उसकी स्वविषयक चेतना आत्यन्तिक रूप में प्रकट हुई है। इस स्वविषयक चेतना की प्रबलता के परिणामस्वरूप मनु शेष सृष्टि से अलगाव की बात सोचते हैं—

क्रंदन का निज अलग एक आकाश बना।[२]

यह अलगाव मन की सहज प्रकृति है। मन से 'मेरा' और 'दूसरे का' इस द्वैत की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार है जो मन की एक वृत्ति मात्र है।[३] "योग-दर्शन के अनुसार" अहंकार सहज प्रवृत्तियों तथा आवेगों का, जिनमें सुख-दुःखादि अनुभूतियों का प्राधान्य होता है—महान् भंडार है। यह सभी अनुभवों का आगार है। यही वैयक्तिक चेतना की आत्मता की प्रथम अभिव्यक्ति है। ज्ञान के कारण अवधान की एकाग्रता तथा बुद्धिपूर्वक अनुभूति-सम्पन्न होते हैं। यह आत्मानुभव तथा कल्पना (Ideation) का अधिष्ठान है। सभी आंतरिक अनुभवों का यह चेतन ज्ञाता है। यही व्यक्तिकृत आत्मा भी है।"[४] मनु अपने सम्बन्ध में जो बातें कहते हैं वे उन्हें अहंकार के इस विवेचन के बहुत निकट ले आती हैं। एक स्थान पर मनु भाव-चक्र में पिसने की बात कहते हैं जो आवेगों के भण्डार सम्बन्धी विचार से बहुत मिलती हैं—

हाँ भाव-चक्र में पिस पिस कर
चलता ही आया हूँ बढ़कर,[५]

---

१ वही, पृ० ६५।
२ वही, पृ० २०७।
३ "भारतीय मनोविज्ञान" में डा० अ० ग० जावडेकर का लेख 'वेदान्तीय मनोविज्ञान के कुछ पहलू' पृ० ८१।
४ 'भारतीय मनोविज्ञान में डा० पी० एस० खत्री का लेख 'योग दर्शन का मनोविज्ञान' पृ० ६१।
५ कामायनी, पृ० २१२।

अन्यत्र वे प्रवृत्ति और आवेगों के अधिष्ठान के रूप में अपने आपको प्रस्तुत करते हैं—

मेरा सब कुछ क्रोध-मोह के
उपादान से गठित हुआ। [1]

आक्रामक प्रवृत्ति और स्वरक्षान्वेषण

यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि मनु ने क्रोध-मोह को ही अपने घटक तत्वों के रूप में उपस्थित क्यों किया ? अन्य प्रवृत्तियों और आवेगों का उल्लेख घटक तत्वों के रूप में क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि मनु को दुर्दम अहं-चैतन्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है क्योंकि वे मन के—जो व्यक्ति-चेतना का अधिष्ठान है—प्रतीक हैं। व्यक्ति-मनोविज्ञान के प्रतिष्ठाता एलफर्ड एडलर का दृष्टिकोण भी मन के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही रहा है। एडलर के मतानुसार आक्रामक प्रवृत्ति और स्वरक्षान्वेषण से व्यक्ति-चेतना का गठन हुआ है। क्रोध का सम्बन्ध आक्रामक प्रवृत्ति से और मोह का सम्बन्ध स्वरक्षान्वेषण से है।

इस प्रकार मनु के सम्बन्ध में प्रसाद का यह दृष्टिकोण एडलर के व्यक्ति-मनोविज्ञान विषयक दृष्टिकोण से—जो अहंचेतना के आधार पर प्रतिष्ठित हैं—बहुत मिलता है। परिवेश के साथ अहं—चैतन्य व्यक्ति के सामंजस्य की समस्या ही एडलर के विचार से मानव—मन की मुख्य समस्या है। बाह्य परिवेश के साथ सामंजस्य बिठाने के लिए व्यक्ति उस पर विजय प्राप्त करना चाहता है। अपने इस प्रयत्न में असफल होने पर उसके मन में आक्रामक भाव का उदय होता है। प्रतिस्पर्धियों के प्रति ईर्ष्या तथा समाज-विरोधी तत्व एवं निजी जीवन में विसामंजस्य इसी असफलता का परिणाम हैं। [2]

भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन,
प्राणी को कटुता बांट रहा जगती को करता अधिक दीन।

---

१. वही, पृ० २३९।

2. Adler regarded the self-assertive impulse rather than the sex impulse as the major drive, and as the drive most likely to be frustrated by the environment. It was likely to generate hostility towards competitors, antisocial attitudes, and the maladjustments of neurosis and psychosis. R. S Woodworth, Contemporary Schools of Psychology. p. 194.

निर्माण और प्रतिपल विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता;
संघर्ष कर रहा-सा सबसे, सब पर विराग सब पर ममता।
अस्तित्व चिरंतन-धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर,
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर।[1]

अहं-चेतना के कारण व्यक्ति अपने अस्तित्व की ही रक्षा चाहता है, दूसरों के अस्तित्व की चिन्ता नही करता। इसके विपरीत वह दूसरों से आतंकित होने के कारण उनको दबाकर अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है। इस बात को लक्ष्य कर इड़ा मनु को 'गर्वीले' कहकर सम्बोधित करती हुई उन्हें वह मार्ग बतलाती है जिससे आतंकजनित संघर्ष का निवारण हो सके। इसलिए इडा मनु को जो मार्ग बतलाती है उसमें मन की अहं-चेतना के शमन का संदेश प्रतिध्वनित हो रहा है–

क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।[2]

व्यक्ति के आतंकित होने और दूसरों को आतंकित करने के सम्बन्ध में प्रसाद का यह दृष्टिकोण एडलर के हीनतानुभूति-विषयक सिद्धा त के बहुत निकट है। एडलर के मतानुसार व्यक्तित्व निर्माण पर बाल्यकालीन परिवेश और उसके प्रति बालक की प्रतिक्रिया का बहुत प्रभाव पड़ता है। चतुर्दिक् जगत् की तुलना मे बालक अपने आपको हीन अनुभव करता है। उस हीनता पर विजय पाने के लिए वह यथासंभव अधिकाधिक आत्मस्थापन का प्रयत्न करता है। प्रत्येक व्यक्ति मे विजयैषणा या शक्ति अर्जित करने की सहज प्रवृत्ति होती है। इसलिए वह अपने ऊपर दूसरों का प्रभुत्व पसद नही करता, यथासंभव उससे बचना चाहता है इसके साथ ही वह दूसरो पर यथासंभव अपना अधिकाधिक प्रभुत्व चाहता है। जो व्यक्ति दूसरों की तुलना में अपने आपको हीन अनुभव करता है वह श्रेष्ठता के लिए प्रयत्न कर इस हीनतानुभूति से मुक्त होने का प्रयत्न करता है।[3] हीनतानुभूति आतंकित होना है और श्रेष्ठता अर्जित कर दूसरों को अनुशासित करने की चाह आतंकित करने का प्रयत्न है।

परिवेश के साथ विसामंजस्य

मनु अपने परिवेश के साथ निरतर सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनकी स्वविषयक चेतना उसमें बार-बार बाधा पहुँचाती है। श्रद्धापरिणय के उपरांत मनु को सामजस्य का एक अवसर मिलता है, किन्तु प्रबल अहं-चेतना के परिणामस्वरूप उनमें समर्पण का अभाव रहता है। इसलिए सामंजस्य नहीं बैठ पाता। पहले पशु

१. कामायनी, पृ. १६६
२. वही, पृ. २१३
३. R. S. Woodworth Contemporary Schools of Psychology, p 193

और फिर अपने भावी पुत्र से उन्हें ईर्ष्या होने लगती है और वे पलायन कर जाते हैं। उनका यह पलायन परिवेश के साथ व्यक्ति के विसामंजस्य का परिणाम है। इस विसामंजस्य का कारण मनु की स्वविषयक चेतना है जो मनु के इन शब्दों से प्रकट होती है—

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।[1]

× ×

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व.
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।
तुम दानशीलता से अपनी,
बन सजल जलद वितरो न बिंदु,
इस सुख-नभ में मैं विचरूँगा,
बन सकल कलाधर एक इन्दु।[2]

आधिपत्य-भावना

प्रेम के क्षेत्र मे व्यक्ति की यह अहंता आधिपत्य-भावना का रूप ले लेती है। वह प्रणय पर पूर्ण स्वत्व चाहता है। उसका ध्येय उपलब्धि बन जाता है। वह लेना ही चाहता है, देना—समर्पण नहीं। परिणाम यह होता है कि इससे प्रणय दूषित हो जाता है। श्रद्धा से पलायन किये हुए मनु को काम यही समझता है—

"कुछ मेरा हो" यह राग-भाव संकुचित पूर्णता है अजान,
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।[3]

---

१. कामायनी, पृ० १६०।
२. वही, पृ० १६५।
३. वही, पृ० १३५।

काम मनु को यह बात स्पष्ट रूप से बतला देता है कि प्रेम में जीवन की जो महान् शक्ति है उसे मनु अपनी अहंता के कारण नहीं पा सके। अपने अहंकार के वशीभूत वे प्रेम को आधिपत्य-भावना के रूप में ही देख सके। प्रेम को इस रूप में ग्रहण करने के कारण प्रेम-पात्र पर वे पूर्णाधिकार चाहते थे—प्रेम का किंचित् वितरण भी उन्हें सह्य नहीं था। इसीलिए प्रेम में उनके हाथ केवल ईर्ष्या लगी, आक्रोश में उसकी परिणति हुई—

तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया,
हाँ, जलन वासना को जीवन भ्रम-तम में पहला स्थान दिया।[1]

प्रेम की महान् शक्ति अहंता से संकुचित हो जाती है—यह बात भी काम को मनु को इसीलिए समझानी पड़ी कि मनु अपने अहंकार या स्वविषयक चेतना के कारण प्रेम को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं कर सके थे—

यह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत।
× × ×
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।[2]

स्वेच्छाचारिता

श्रद्धा के साथ निर्वाह न हो पाने पर मनु का परिचय इड़ा से होता है, किन्तु वहाँ भी मनु की यह अहंता ही निर्वाह या परिवेश के साथ सामंजस्य में बाधक बनती है। वे इड़ा पर पूर्णाधिकार चाहते हैं—

आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या?
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या?
मैं सबको वितरित करता ही सदा रहूँ क्या?
कुछ पाने का यही प्रयास है पाप सहूँ क्या?
तुमने भी प्रतिदान दिया कुछ कह सकती हो?
मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो?
जो मैं हूँ चाहता वही जब मिला नहीं है,
तब लौटा लो व्यर्थ बात जो अभी कही है,
इड़े मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ।[3]

---

१. कामायनी, पृ० १७५।
२. वही, पृ० १७७
३. वही पृ० २०६।

अपने अहंकार के कारण वे अपने द्वारा बनाये गये विधान का पालन स्वयं ही नहीं करते –

मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल से प्रयत्न कर
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।
किन्तु स्वयं भी क्या सब कुछ मान चलूँ मैं
तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण-सा सदा गलूँ मैं।
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं।[1]

मनु इस बात को भली भांति समझते हैं कि अहंजनित अधिकार-चेतना ही परिवेश के साथ उनके विसामंजस्य के मूल में है—

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब कहाँ रुका मैं ?
इड़ा नियम-परतंत्र चाहती मुझे बनाना
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना।[2]

मनु की इस स्वीकारोक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रद्धा और इड़ा दोनों में उनकी दो भिन्न कारणों से नहीं निभ सकी थी। श्रद्धा के साथ इसलिए नहीं निभ सकी कि मनु में समर्पणशीलता का अभाव था। इड़ा से इसलिए नहीं निभी कि मनु स्वेच्छाचारी थे, नियमों से नहीं बंध सकते थे—मनमानी करना चाहते थे। वस्तुतः इन दोनों का उत्स एक ही है—व्यक्ति-चेतना का अतिरेक जो एक ओर अभिमान के कारण समर्पण की भावना से शून्य है तो दूसरी ओर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना को उच्छृंखलता की सीमा तक ले जाता है। विराट् सत्ता (मनोवैज्ञानिक शब्दावली में परिवेश) या शेष सृष्टि के साथ व्यक्ति-चेतना के विसामंजस्य को प्रसाद ने इड़ा के मुख से व्यक्त कराते हुए अपना दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है। व्यक्ति अपने आपको संकुचित सीमाओं में इस प्रकार आबद्ध कर लेता है कि वह शेष सृष्टि से कट-सा जाता है, उसके भीतर ही एक सृष्टि बन आती है और वह शेष सृष्टि के साथ मिलकर नहीं चल सकता। यही विवाद (विसामंजस्य) उत्पन्न होता है। यदि व्यक्ति द्वैत भावना (जिसका मूल अहंकार है जिसके कारण वह अपने को दूसरों से तथा दूसरों को अपने से विलग करता है) का विस्मरण कर शेष सृष्टि का साथ दे तो व्यक्ति मानस का परिवेश के साथ सामंजस्य संभव है—–

---

१. कामायनी, पृ० २०१–२
२. वही, पृ० २०२।

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरण में है निर्मित।
चिति केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन मे भरता है-
वे विस्मृत पहिचान रहे-से एक एक को,
होते सतत समीप मिलते हैं अनेक को।
स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें
व्यक्ति चेतना इसीलिए परतंत्र बनी-सी,
रागपूर्ण, पर द्वेष-पंक में सतत सनी-सी,

× × ×

देश-कल्पना काल-परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है।
यह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से
तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति से।
क्षितिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्माण्ड विवर में,
गुंजारित घन-नाद सुनो इस विश्व कुहर में।
ताल-ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इस में।[1]

मानसिक उन्नयन की पाँच स्थितियाँ

उपर्युक्त पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद ने मनु को अहं चैतन्य मन का, व्यक्ति मानस का, जो महाचिति के परिसीमित अंश की अभिव्यक्ति है–प्रतीक माना है। व्यक्ति अपनी अहं-चेतना के कारण शेष सृष्टि या परिवेश के साथ सामंजस्य बनाये नहीं रख पाता। फलतः विसामंजस्य (Maladjustmont) उत्पन्न होता है। इस विसामंजस्य से मुक्ति का उपाय यही है कि वह व्यक्ति चेतना अर्थात् अहंकार से ऊपर उठे। 'स्व' की संकुचित सीमाओं का परित्याग कर शेष सृष्टि के साथ मिलकर चले। योग-दर्शन में मन की पाँच भूमियाँ बतलायी गयी हैं, जो वस्तुतः मानसिक उन्नयन की पाँच क्रमिक स्थितियाँ हैं। "पहला है क्षिप्त चित्त जो रज से प्रचलित होता है। यह भावनाओं से प्रभावित हुआ करता है। दूसरा है मूढ़ चित्त, याने विस्मरण चित्त। यह चित्त क्रोध जैसी भावनाओं से जो तम की अभिव्यक्तियां हैं, नियन्त्रित

---

१ कामायनी, पृ० २०४-५।

रहता है। यह प्राय: गलत बातों की ओर अभिमुख होता है। विक्षिप्त चित यह तीसरा नमूना है। यह कभी-कभी स्थिर रहते हुए भी प्राय: चंचल रहा करता है। चौथा है एकाग्र चित्त जो किसी एक ही योग्य या उपयुक्त विषय पर केन्द्रित रहा करता है। अन्तिम है निरोध-चित्त अर्थात् नियंत्रित चित्त। ज्ञान में सभी मानसिक क्रियाओं का प्रतिरोध हो गया होता है। जब सामान्य मनोवृत्तियों का निरोध हो जाता है तब सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इसमें सत्व विपुलता से विद्यमान रहता है।"[1]

कामायनी में मनु के चरित्र-विकास में ये पांचों स्थितियाँ बहुत स्पष्ट दिखलाई देती हैं। आरम्भ में वैभव-विलासमयी देव-सृष्टि के विनाश की स्मृति से मनु विक्षुब्ध दिखलाई देते हैं। यह क्षिप्त चित्त की स्थिति है जो श्रद्धा सर्ग तक दिखलाई देती है। श्रद्धा के साथ परिणय के उपरान्त प्रेम के पूर्णाधिपत्य के प्रयत्न में असफलता से उत्पन्न ईर्ष्या और आक्रोश मूढ चित्त की स्थिति का परिचायक है। वासना, कर्म और ईर्ष्या सर्गों में इसी स्थिति के दर्शन होते हैं। सारस्वत नगर में पहुँचने पर इड़ा के साथ परिचय होने पर मनु के जीवन में स्थिरता आती-सी प्रतीत होती है जब वे विधान बनाते हैं, किन्तु पुन: मन चंचल हो उठता है। यह विक्षिप्त चित्त की स्थिति है। स्वप्न और संघर्ष सर्गों में मन की इसी स्थिति का चित्रण है। दर्शन सर्ग में नटराज के नृत्य के दर्शन के साथ मनु का चित्त एकाग्र हो जाता है। रहस्य सर्ग में इच्छा, क्रिया, ज्ञान लोक के सम्बद्ध हो जाने पर यह एकाग्रता और भी दृढ हो जाती है। अंत में आनन्द सर्ग में निरोध की स्थिति आती है जहां एक अखंड चेतना का विलास दृष्टिगत होता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कामायनी में प्रसाद ने मनु के माध्यम से न केवल मन की प्रकृति पर ही प्रकाश डाला है, अपितु उसके उन्नयन का मार्ग भी प्रदर्शित किया है। उसके उन्नयन की विभिन्न स्थितियां कामायनी में बहुत ही स्पष्ट हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि प्रसाद ने मनु को मन के प्रतीक-रूप में कामायनी में उपस्थित कर उसके प्रतीकार्थ का सफल निर्वाह किया है।

१—भारतीय मनोविज्ञान, पृ० ६१–६२

—:o:—

अध्याय ३

श्रद्धा : प्रतीक-विश्लेषण

व्याप्ति की दृष्टि से कामायनी की कथा में मनु की प्रधानता है तो महत्ता की दृष्टि से वहाँ श्रद्धा का प्रामुख्य है। जैसा कि डॉ० फतहसिंह ने लिखा है—"मनु के कल्याण-पथ की वास्तविक प्रदर्शिका श्रद्धा है, वही सद्गुरु की भाँति उसे वहाँ तक ले जाती है।"[1] वस्तुतः मनु कामायनी की समस्या हैं और श्रद्धा उस समस्या का समाधान। अतएव कामायनी को भली भाँति समझने के लिए श्रद्धा के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान बहुत आवश्यक है।

हृदय-पक्ष की प्रतीक ?

कामायनी के आमुख में प्रसाद ने उसे हृदय-पक्ष की प्रतीक माना है—"मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"[2] इस प्रतीक सम्बन्ध की पुष्टि कवि ने ऋग्वेद (१०।११।४) के इस उद्धरण से की है-"श्रद्धा हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।[3] श्रद्धा सर्ग में कवि ने एक बार पुनः इस प्रतीक-सम्बंध की ओर संकेत किया है।

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।[4]

कामायनी के अधिकांश समीक्षकों ने श्रद्धा का प्रसाद द्वारा संकेतित प्रतीकार्थ ही ग्रहण किया है। वे उसे हृदय-पक्ष की प्रतीक मानने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि श्रद्धा को हृदय-पक्ष की प्रतीक मानें तो हृदय की विशेषता भावात्मकता या भावप्रवणता के अन्तर्गत श्रद्धा में निषेधात्मक या ध्वंसात्मक भावों जैसे क्रोध, द्वेष, घृणा आदि का समावेश भी होना चाहिए, किन्तु कामायनी की श्रद्धा में ये विशेषताएँ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में श्रद्धा को हृदय-पक्ष की प्रतीक कहने में थोड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी। श्रद्धा हृदय-पक्ष की प्रतीक केवल 'हार्दिकता' वाले अर्थ में ही सकती है। संभवतः इसीलिए रामचंद्र शुक्ल ने उसे 'रागात्मिका वृत्ति' कहना अधिक

१. कामायनी-सौन्दर्य, पृ० १०३।
२. वही, पृ० ७–८
३. वही, पृ० ८।
४. वही, पृ० ५६।

उचित समझा है।[1] डॉ० नगेन्द्र ने भी शुक्ल जी के मत का समर्थन किया है। इतना ही नहीं, वे कामायनी की समस्या को पूँजीवाद के रूप में प्रकट व्यक्तिवाद-प्रेरित सुख-लालसा की समस्या मानते हुए उसके समाधान-रूप में श्रद्धा को मानवतावाद और ग्रहमात्रूनि के प्रतीकार्थ तक खींच ले गये हैं।

"व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्तिपरक भौतिक बुद्धिवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पूँजीवाद के रूप में मिलता है। वह इड़ा अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखों को अपने में केन्द्रित करने का असफल प्रयत्न करता है। अन्त में वह अनुभव करता है कि श्रद्धा के बिना जीवन की विडम्बना का अन्त नहीं। यह श्रद्धा अर्थात् रागात्मिका वृत्ति गांधी जी की अहिंसा और पाश्चात्य दार्शनिकों की मानव-भावना की पर्याय है। आज इसी मानव-भावना की प्रेरणा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा संस्कृति, विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनों के पीछे मानव-भावना की सद् प्रेरणा रहेगी, तो इनका समन्वय स्वतः ही हो जाएगा। आज के पूंजीवाद से पीड़ित समाज की विडम्बनाओं का समाधान यही मानववाद है जिसका भौतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गांधीवाद है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि डॉ० नगेन्द्र कामायनी की समस्या को पूँजीवाद, समाजवाद और गांधीवाद के त्रिकोण में रखकर देखना चाहते हैं। वस्तुतः कामायनी में इस प्रकार के जीवन-दर्शन के प्रतिपादन का कोई प्रयत्न लक्षित नहीं होता। आधुनिक साहित्य को इसके मध्य रखने की डा० नगेन्द्र की जो प्रवृत्ति 'आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ' में व्यक्त हुई है उसी के अनुसार उन्होंने कामायनी की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है जो स्पष्टतः समीक्षक के द्वारा समीक्ष्य पर निजी दृष्टिकोण के आरोप का परिणाम है। वस्तुतः कामायनी की समस्या समाज-दर्शन की समस्या नहीं, व्यक्तित्व के निर्वाह की समस्या है। इसलिए उसे उसी रूप में समझना चाहिए। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय का सम्बंध पूँजीवाद, समाजवाद या गांधीवाद किसी भी समाज-दर्शन से नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार की समाज-व्यवस्था के मध्य व्यक्तित्व के विघटन और संगठन से है। इसलिए उसे उसी दृष्टि से समझना चाहिए।

युंग-प्रतिपादित जीवन-चेतना (लिबीडो)

इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने एक महत्वपूर्ण संकेत कामायनी के अध्येता के लिए छोड़ा है—मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार श्रद्धा की स्थिति वही है जो युंग प्रतिपादित जीवन-चेतना की। वह आस्तिक्य भावना अथवा जीवन-आस्था और जीवन-प्रेरणा दोनों को अपने में समाहित किये हैं। अतएव श्रद्धा की प्रतीकात्मकता के स्पष्टीकरण के लिए सर्वाधिक समीचीन शब्द 'जीवन-ऊर्जा' है, जिसे युंग ने चिति-

---

१. डॉ० नगेन्द्र—'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' पृ० ४४।

२. वही, पृ० ५१।

शक्ति (Psychic energy) या लिबिडो कहा है।[1] तब डा० नगेन्द्र के इस कथन का क्या आशय है कि 'स्वभावतः ही वह रागवृत्ति (लिबिडो) से अधिक व्यापक है ?

इस प्रश्न का उत्तर तीन स्तरों पर दिया जा सकता है। श्रद्धा शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का विचार करते हुए कामायनी में श्रद्धा के बहुविध उल्लेख, संदेश और उसकी भूमिका का विश्लेषण करने के साथ मनोविश्लेषण के लिबिडो-सिद्धांत तथा अन्य सम्बंधित सिद्धांतो के आधार पर उसकी समीक्षा करने से प्रसाद द्वारा प्रतिपादित श्रद्धा का स्वरूप भली भांति स्पष्ट हो सकता है।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

'श्रद्धा' के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की गवेषणा करते हुए डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने लिखा है—"सायणाचार्य ने श्रद्धा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे श्रत् शब्द के साथ 'धा' धातु के योग से 'आङ' प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया है और इसका अर्थ आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास बतलाया है। निरुक्तकार ने श्रद्धा शब्द की व्याख्या करते हुए उसे ऐसी सत्य-बुद्धि बतलाया है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली होती है।"[2] संभवतः इसी आधार पर डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"तत्व रूप में श्रद्धा कोरी भावुकता नहीं है, आस्तिक्य बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अस्तित्व की तीनों अभिव्यक्तियों—इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। प्रसादजी ने भी श्रद्धा को कोरी भावुकता के रूप में चित्रित नहीं किया, वह वास्तव में जीवन-प्रेरणा की प्रतीक है।"[3] इस कथन में डा० नगेन्द्र श्रद्धा के प्रतीकार्थ के बहुत निकट पहुंच गये हैं। वस्तुतः जीवन-प्रेरणा शब्द उस विचार का सम्यक् बोध करा पाने में असमर्थ है जो श्रद्धा के रूप में मूर्तिमन्त होकर हमारे समक्ष आता है। प्रेरणा शब्द कुछ बाहरी-सा प्रतीत होता है और उससे कुछ ऐसा विचार उत्पन्न होता है, जैसे वह जीवन का अंतरंग अंग न हो। श्रद्धा का जो रूप प्रसाद ने अपने काव्य में प्रतिष्ठित किया है वह आस्तिक्य अथवा जीवन-आस्था और जीवन-प्रेरणा दोनों को अपने में समाहित किये है। अतएव श्रद्धा की प्रतीकात्मकता के स्पष्टीकरण के लिए सर्वाधिक सार्थक शब्द 'जीवन-ऊर्जा' है जिसे युंग ने लिबिडो (Psychic energy) व

---

1. In my view this concept (Libido) is synonymous with psychic energy.........consequently I employ the expression libido with energy.

—C.G. Jung, Psychological Types, p. [illegible]

२. डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, 'कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन', [illegible]

३. डा० नगेन्द्र, कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, [illegible]

लिबिडो कहा है ।[1]

जीवन-ऊर्जा का उदात्त रूप

कामायनी का काम जीवन-ऊर्जा का प्रतीक है ।[2] श्रद्धा उसकी पुत्री होने के नाते उसी ऊर्जा की वाहिका है, परन्तु प्रसाद जैसे अन्तर्द्रष्टा कवि से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह एक प्रतीकार्थ के लिए दो प्रतीकों की योजना करे । वस्तुतः कामायनी में ऐसा शैथिल्य है भी नहीं । काम और श्रद्धा में पिता-पुत्री सम्बंध है, फिर भी दोनों अभिन्न नहीं हैं । काम जिस जीवन-ऊर्जा का प्रतीक है, श्रद्धा उसके उदात्त रूप का प्रतिनिधित्व करती है । वह मूलतः काम से उद्भूत है—उसी का उन्नयन है, इसी अर्थ में वह काम की पुत्री है । वह 'काम (जीवन-ऊर्जा) के रचनात्मक रूप का संवहन करती है।

जीवन-ऊर्जा के इस रचनात्मक रूप के लिए ही फ्रायड ने 'जीवन-मूलप्रवृत्ति' संज्ञा प्रदान की है[3] और एडलर ने उसे सामाजिक भावना के रूप में देखा है । मनोविश्लेषण के उपर्युक्त आचार्यों के दृष्टिकोण के साथ प्रसाद की श्रद्धा के स्वरूप और कामायनी में श्रद्धा के अनेकविध उल्लेखों एवं विविध संदेशों के आधार पर उसके व्यक्तित्व एवं प्रतीकार्थ के विभिन्न पक्षों का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्यक् रूपेण संभव है ।

जीवन-ऊर्जा के दो पक्ष

जीवन-ऊर्जा, जिसकी स्थिति व्यक्ति में होती है, दो दिशाओं में सक्रिय रहती है । वह एक ओर व्यक्ति के अस्तित्व की भावना वहन करती है तो दूसरी ओर वह परिवेश के साथ उसके सामंजस्य का प्रयत्न करती है । फलतः परिवेश के प्रति विधायक (Positive attitude) लेकर प्रकट होती है । वह अपने अस्तित्व के साथ दूसरों का अस्तित्व चाहती है और इस प्रकार व्यक्ति और परिवेश के मध्य सेतु का कार्य करती है । इसी अर्थ में वह हार्दिकता की वाचक है ।

हार्दिकता

कामायनी में श्रद्धा के सम्बन्ध में जो पहला उल्लेख है वह हार्दिकता के इसी रूप की ओर संकेत करता है । श्रद्धा को देखने पर मनु को वह हृदय की बाह्य एवं उदार

---

1. For Jung, then Libido was the total vital energy of the individual which finds its outlets in growth, in reproduction and in all kinds of activities. – R. S. Woodworth, Contemporary Schoolls of Psychology, p. 199.

२. देखिए काम-विश्लेषण ।

3. Freud's study of narcissism led him to combine libido and the other life instincts under the name of eros, which is essentially the same as Jung's libido
–R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology, p. 200

अनुकृति की प्रतीति होती है। 'वाह्य' शब्द यहाँ बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस एक ही पंक्ति में प्रसाद ने पहले उसे हृदय की अनुकृति कहकर उसकी आन्तरिकता अथवा अन्तर्मुखता की ओर संकेत किया है और तदुपरात 'वाह्य' कहकर उस आन्तरिकता के वाह्य प्रकाशन अथवा वहिर्मुखता और 'उदार' कहकर उसके विधायक रूप की ओर संकेत किया है। इस प्रकार एक ही साथ श्रद्धा के अन्तर-बाह्य रूप के उल्लेख से युंग द्वारा प्रतिपादित चिति-शक्ति या लिबिडो के द्विविध प्रकाशन अन्तर्मुखता और वहिर्मुखता (Introversion and extroversion) एवं उसकी उदात्तता की ओर संकेत से प्रसाद का दृष्टिकोण युंग के बहुत निकट आ जाता है। युंग ने व्यक्तित्वों का वर्गीकरण करते समय दो मूल वर्ग माने हैं : (१) अन्तर्मुख और (२) बहिर्मुख। अन्तर्मुख व्यक्तियों में चिति-शक्ति व्यक्ति के अन्तर्जगत् (आतरिक भावनाओं, विचारों, कल्पनाओं आदि) में सचेष्ट रहती है जबकि बहिर्मुख व्यक्तियों में चिति-शक्ति वहिर्जगत् (परिवेश के प्रति जागरूकता) की ओर उन्मुख होती है।[1]

हार्दिकता के उक्त दोनों पक्षों की ओर प्रसाद का ध्यान रहा है। एक स्थान पर प्रसाद ने श्रद्धा के मुख से ही उसकी आन्तरिकता की ओर संकेत कराते हुए उसे अन्तरात्मा की वाणी के रूप में प्रस्तुत किया है—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन[2]

दूसरी ओर वाह्य परिवेश के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध की वाहिका के रूप में उसके मुख से अपना परिचय दिलवाया है—

यह हृदय ! अरे दो मधुर बोल[3]

---

1. Jung's complicated theoritical system demands several polarities. The best known is that between introversion, and extroversion. Jung believed it possible to distinguish two types of individuals, those whose interests and attention were confined to what went onin themselves (the introverts) and those whose interests and attention went out to the physical and social environment (the extroverts). The extrovert is "set" for dealing with the external world, tthe introvert for dealing with the inner world of ideas and feelings The extrovert finds the values of life in the objects (and persons) perceives and manages, while the introvert finds his values in thoughts, feelings and ideas. The libido, as Jung would say, has an outword thrust in extroversion, an inward thrust in introversion.

—R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology, P. 200.

२. कामायनी, पृ० २२८।

३. वही, पृ० २४६।

'दो मधुर बोल' से कवि का संकेत मधुर उक्तियों के माध्यम से बहिर्जगत् के साथ मधुर सम्बन्ध की स्थापना की ओर रहा है।

इस प्रकार कवि ने इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है कि 'माधुर्य' में श्रद्धा को हृदय-पक्ष का प्रतीक कहने से उसका अभिप्राय हार्दिकता से ही है–हृदय की भावुकता या भावावेशमयी प्रवृत्ति से नहीं। कवि के इस आशय की पुष्टि मनु की उस उक्ति से भी होती है जिसमें मनु श्रद्धा को 'हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा' कहकर उसे हृदय के सुन्दर पक्ष से चित्रित कर देते हैं—

हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा ! कौन तुम छविधाम ?[१]

यह हार्दिकता वासनामूलक ही है–उसका उद्गम वासना से ही है, किन्तु यह उसका अत्यन्त परिष्कृत (Refined) रूप है—

वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम ।[२]

जीवनास्था—

हार्दिकता के साथ जीवन-ऊर्जा जीवनास्था के रूप में व्यक्ति के अन्तःकरण में उल्लास का संचार करती है। कवि ने श्रद्धा के रूप में जीवन-ऊर्जा को उपस्थित करते हुए उसके मुख से यह बात कहलवाई है—

उल्लासभरा-सा अन्तरतल
मेरा निवास अति मधुर कांति
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति ।[३]

विश्वास और आत्मविश्वास

जीवनास्था विश्वास को जन्म देती है। यह विश्वास एक ओर व्यक्ति के आत्मविश्वास के रूप में प्रकट होता है—

उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल [४]

तो दूसरी ओर वह परिवेश अथवा बहिर्जगत् के प्रति विश्वास के रूप में व्यक्त होता है। इसलिए कवि ने श्रद्धा के पिता काम के मुख से उसे विशुद्ध विश्वासमयी कहलवाया है—

---

१ कामायनी पृ० ६७।
२ वही, पृ० ६७।
३ वही, पृ० २४८।
४ वही, पृ० १७४।

श्रद्धा इस संसृति की रहस्यमय व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी ।[1]

और इसलिए कवि ने एक स्थान पर श्रद्धा का चित्र उपस्थित करते हुए उसके मुख पर विश्वासभरी स्मिति का उल्लेख किया है–

वह विश्वासभरी स्मिति निश्छल
श्रद्धा मुख पर झलक उठी थी।[2]

सामाजिक भावना के दो पक्ष

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मविश्वास और परिवेश के प्रति आश्वस्तता एक दूसरे के पूरक हैं। एडलर ने सामाजिक भावना के सम्बन्ध में जो मान्यता प्रस्तुत की है उसके अनुसार सामाजिक भावना से सम्पन्न व्यक्ति स्वयं अपने सम्बन्ध में आश्वस्त होने के साथ ही परिवेश के प्रति भी आश्वस्त होता है। वह अपने सम्बन्ध में दूसरों की आलोचना से विचलित नहीं होता; साथ ही वह दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता और न ही वह दूसरों की आलोचना अथवा निन्दा करता है। उसका रुख सहयोग का रुख होता है। वह अपनी ओर से समाज को जो दे सकता है देता है, किन्तु वह समाज के समक्ष अपने निजत्व को विगलित नहीं करता। वह मृदुता के साथ दृढ़तापूर्वक आचरण करता है। वह दूसरों को हानि नहीं पहुंचाना चाहता, किन्तु दूसरों के हाथों अपनी हानि भी नहीं होने देता है।[3] संक्षेप में कहें तो उसका रुख परिवेश के साथ सामंजस्य का होता है, आत्मविलीनीकरण का नहीं। समष्टि के दृष्टिकोण के साथ अपने दृष्टिकोण को मिलाने के उद्देश्य से वह समष्टि के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं करता, बल्कि वह अनाक्रोशमयी प्रवृत्ति के साथ सहानुभूतिपूर्ण एवं रचनात्मक दृष्टि से परिवेश का साक्षात्कार करता है।[4] ऊपर उद्धृत पद्यों

१. कामायनी, पृ० १७८।

२. वही, पृ० २७१।

3. The picture which Adler drew of the "normal" human being was of one who was "harmless"-Such a person would be characterized by the absence of any desire to criticize, depreciate or interference with the activities of others. While their criticism of him would leave him still unruffled, unantagonistic, and secure, his approach to others would be one of open—minded sympathy towards their interests and potentialities with a generous desire to hold back nothing of his own individuality and to make the maximum contribution of all that m possessed. Yet he would hold to his own line and quietly refuse to be exploited. His tendency would always be to put the best contribution upon all events and actions rather than to look for flaws. He would be gentle and he would be firm. His attitude could not harm others nor could be himself he easily harmed.

Lewin way, Adler's place in Psychology, p. 210.

4. Neither passive confirmity nor an assertive private sense are helpful to the community...... If cooperation is important, indepedence and individuality are no less so. Ibid, pp 195-96

में आत्मविश्वास और विशुद्ध विश्वास को बात कहकर प्रसाद ने श्रद्धा के अन्तर्गत सामाजिक भावना के उक्त दोनों पक्षों के सन्तुलन की ओर संकेत किया है।

मृत्यु पर जीवन की प्रतिष्ठा

कामायनी में श्रद्धा जीवनास्था के दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करती है। एक ओर वह जीवनास्था-शून्य मनु के मन में जीवन के प्रति नूतन आशा और उत्साह का संचार करती है तो दूसरी ओर वह परिवेश के साथ व्यक्ति के सहयोग पर बल देती है। मनु प्रलय की विभीषिका से त्रस्त होकर जीवन के प्रति निराश हो गये थे इसलिए उनकी धारणा बन गई थी—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय ?
लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह।[1]

श्रद्धा अपने प्रेरणापूर्ण शब्दों से अनास्था की इस भावना को समाप्त करने का प्रयत्न करती है। वह अनस्तित्व, नाश और ध्वंस को असत्य नहीं मानती, किन्तु उन्हें वह अस्तित्व, रचना और सृष्टि का ही अविच्छिन्न अंग मानती है और मनुष्य-जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करने का अनुरोध करती है। इसके लिए वह मृत्यु पर जीवन को प्रतिष्ठित करती है—

कहा आगंतुक ने सस्नेह :—
अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते मरकर जिसको वीर।[2]

साथ ही वह जीवन के अन्धकारमय पक्ष को जीवन की समग्रता में अन्तर्भूत करती हुई जीवन को समग्र रूप में ग्राह्य मानने पर बल देती है—

दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल।

---

१. कामायनी, पृ० ६।
२. वही, पृ० ६५।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान
यही दुख-सुख-विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।[1]

इसीलिए श्रद्धा त्याग, तप आदि ऋणात्मक मूल्यों को अस्वीकार करती है। ये मूल्य जीवन की अंतरंग अनुभूति में बाधक बनते हैं —

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश ?[2]
तप नहीं, केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।[3]

कर्म का भोग भोग का कर्म

श्रद्धा के इस संदेश से यह भ्रांति हो सकती है कि वह जीवन के भोग पक्ष पर बल दे रही है। वह जीवन को प्राप्ति में देखती है, उत्सर्ग में नहीं। इस प्रकार की भ्रांति श्रद्धा के व्यक्तित्व को समग्र रूप में न देखने पर ही हो सकती है। श्रद्धा जीवन को भोगने का जो उपदेश देती है उसमें भोग कर्मसंयुक्त है और कर्म भोगसंयुक्त। जीवन की विडम्बना यह है कि भोग प्रायः कर्मविहीन होकर विलास का रूप ले लेता है और कर्म जीवन-भोग से विरहित होकर नीरस यांत्रिकता को जन्म देता है जिससे जीवन व्यायाम बन जाता है। श्रद्धा कर्म की नीरसता और भोग की अकर्मण्यता दोनों को मिटाने के लिए—कर्म को सरस बनाने और उसके प्रति तल्लीनता उत्पन्न करने तथा भोग को जीवन-रंग से युक्त रखने के लिए—ही मनु से कहती है—

कर्म का भोग भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।[4]

---

१. कामायनी, पृ० ६३-६४।
२. वही, पृ० ६२।
३. वही, पृ० ६५।
४. वही, पृ० ६६।

आन्तरिक विघटन का उपचार

कर्म और भोग जीवन-चेतना के दो पक्ष हैं। एक परिवेश की उपलब्धि है और दूसरा उसके प्रति प्रतिक्रिया। इन दोनों की युगपत् स्थिति से ही जीवन की समग्रता का बोध सम्भव है, किन्तु मानव-जीवन की विडम्बना यह है कि जीवन की समग्रता की अनुभूति उसे कभी हो नहीं पाती। इस विडम्बना का कारण अन्यत्र नहीं, स्वयं मनुष्य के व्यक्तित्व की विसंगति में है। प्रायः मनुष्य का व्यक्तित्व खंडित होता है। उसकी चेतना-शक्ति के विभिन्न घटकों में जो बिखराव है वही उसके मूल में है। मनुष्य की इच्छा, क्रिया और उसके ज्ञान में सामंजस्य नहीं होता; इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों अलग अलग रहते हैं। व्यक्तित्व की यह विच्छिन्नता व्यक्ति चेतना में तनाव उत्पन्न करती है जिसके परिणामस्वरूप जीवन का आनन्द नष्ट होता है। जीवन ऊर्जा से इन तीनों में सामंजस्य आ सकता है जिसके परिणामस्वरूप आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। 'रहस्य' सर्ग में प्रसाद ने जीवन-ऊर्जा द्वारा परस्पर संयुक्त इच्छा, क्रिया, ज्ञान के संयोग से उत्पन्न इसी आनन्द तत्व की ओर संकेत किया है—

महाज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा,
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।[1]

+ + +

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो —
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत बस मनु तन्मय थे।[2]

रागात्मिका वृत्ति

शुक्ल जी के समान श्रद्धा को भावात्मकता या 'रागात्मिका वृत्ति' का वाचक मान लेने से निश्चय ही उक्त पदों के अर्थ में उलझन खड़ी होगी किन्तु कामायनी की श्रद्धा भावात्मकता या रागात्मिका वृत्ति की ही प्रतीक नहीं है, वह समस्त जीवन-ऊर्जा (के उदात्त रूप) की प्रतीक है जिसे शापनहावर ने जिजीविषा और बर्गसाँ ने जीवन-तत्व या इलान वाइटल (Elan Vital) कहा है।[3]

---

१. कामायनी, पृ० २८५।

२. वही, पृ० २८५।

३. द्रष्टव्य—आर० एस० वुडवर्थ कृत कण्टेम्परेरी स्कूल्स आव् साइकालोजी, पृ० ११६।

हार्दिकता, जिसे 'आमुख' में प्रसाद ने हृदय-पक्ष कहा है, इसी जीवन-ऊर्जा का एक प्रमुख अंग है जो व्यक्ति और परिवेश के सामंजस्य का योजक है। शुक्ल जी अंश को अंशी समझने की भूल कर गए हैं।

कर्म और शक्ति

जीवन ऊर्जा के रूप में श्रद्धा की प्रतीकात्मकता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि श्रद्धा जीवन-पराङ्मुख मनु को केवल जीवन-भोग की ही प्रेरणा नहीं देती, वह उन्हें कर्म के लिए भी प्रेरित करती है—

विधाता कीक ल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
पटें सागर बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बंद।
जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप कच्छप डूबें-उतरायँ;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।[1]

प्रकृति पर विजय के लिए वह कर्म की प्रेरणा देते समय मानवता की शक्ति का उद्बोधन करती है–

विश्व की दुर्बलता बल बने
पराजय का बढ़ता व्यापार,
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हों निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।[2]

---

१. कामायनी, पृ० ६८–६६।
२. वही पृ० ६६।

जीवन-ऊर्जा की व्यापकता

जीवन-भोग के साथ जीवन-शक्ति का जो उद्‌बोधन श्रद्धा सर्ग में किया गया है उससे इस भ्रान्ति के लिए कोई अवकाश नहीं रहना चाहिए कि श्रद्धा हृदय-पक्ष की प्रतीक होने से भावात्मकता, रागात्मकता, इच्छा और भोग की प्रतीक है। इन सब का समाहार भी श्रद्धा में है, किन्तु श्रद्धा इन्हीं तक सीमित नहीं है। वह समस्त जीवन-ऊर्जा (उदात्तता) की प्रतीक है जिसमें व्यक्ति, परिवेश, दोनों की अन्तर्क्रिया और व्यक्ति के भीतर ही भोग और कर्म, इच्छा, क्रिया और ज्ञान-विभिन्न अवयवों का अन्तर्भाव समझना चाहिए। श्रद्धा की अनेक उक्तियों में जीवन तत्व की इस बलवती प्रेरणा का उल्लेख इस बात का साक्षी है। श्रद्धा की दृष्टि में 'जीवन' ही महत्तम मूल्य है—यही केन्द्रीय तत्व है, यह मंगलमय समृद्धि का अधिष्ठान है—

डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।[1]

जीवन-प्रेरणा के रूप में श्रद्धा ने उसके मंगलमय होने की बात सदैव कही है। वह जीवन की अन्ध प्रेरणा नहीं है जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को उभार कर जीवन में तनाव की सृष्टि करती हो—वस्तुतः इस पक्ष का प्रतिनिधित्व इडा करती है। संसार के प्रति उदासीनता का विरोध करती हुई 'इच्छा' को उद्‌बुद्ध करते समय भी वह उसके मंगलमय पक्ष की बात अवश्य कहती है—

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम।[2]

श्रद्धा और जीवन-मूलप्रवृत्ति

व्यक्ति और परिवेश के सामंजस्य में जीवन की समग्रता की बात अन्ततः फ्रायड ने भी स्वीकार की है। आरम्भ में फ्रायड ने व्यक्ति और बहिर्जगत् में

---

१. कामायनी, पृ० ६८।
२. वही, पृ० ६३।

तनाव का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उन्होंने अहं और राग (प्रेम) को आरम्भ में एक दूसरे का विरोधी माना था,[1] किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यता बदल गई और उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्व-प्रेम और पर-प्रेम मूलतः एक ही स्रोत से उद्भूत है और दोनों का समाहार जीवन-मूलप्रवृत्ति के अंतर्गत हो जाता है। इसी जीवन-मूलप्रवृत्ति का दूसरा नाम ईरोस (आनंदवृत्ति) है।[2] कामायनी की श्रद्धा आनन्द की ओर ले जाने वाले जीवन-तत्त्व की उद्बोधक है। स्व-प्रेम के रूप में वह विषम परिस्थितियों के मध्य भी व्यक्ति को जीवित रहने की प्रेरणा देती है और बहिर्जगत् के प्रति प्रेम के रूप में वह मंगल की वाहिका बनकर पाठक के समक्ष उपस्थित होती है। वह व्यक्ति और परिवेश के मध्य तनाव को मिटाकर उनके सामंजस्य का प्रतिपादन करती है।

व्यक्ति और परिवेश का सामंजस्य

कामायनी में श्रद्धा के बहुविध उल्लेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रसाद ने श्रद्धा को निजी जीवन की प्रेरक मानने के साथ व्यक्ति और बहिर्जगत् के सेतु के रूप में भी उसे चेतनतः प्रतिष्ठित किया है क्योंकि जीवन की समग्रता की अनुभूति दोनों के सामंजस्य में निहित है। श्रद्धा को विश्व-चेतना और पूर्ण काम की प्रतिमा कहकर कवि ने इसी ओर संकेत किया है–

यह विश्व-चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा।[3]

व्यक्ति के निजी स्वार्थ को प्रसाद काम की अपूर्णता मानते हैं। विश्व-चेतना समस्त विश्व की मंगल-कामना, समस्त विश्व का सौहार्द, उसके प्रति अपनत्व की भावना ही श्रद्धा के रूप में उपस्थित है। इसलिए एक स्थान पर इसे जगत् की मंगल-कामना भी कहा गया है––

वह कामायनी जगत् की
मंगल-कामना अकेली।[4]

---

1. These must be, he (Freud) felt, two main opposed trends of motivation......... In the earlier theory......... he adopted as his two main motives--the traditional biological instincts of self-preservation and reproduction,

—R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology, P. 179.

2. The instincts of self-preservation and propagation of the species, though having different immediate goals, are ulitmately alike in being aimed at growth and increase of life. Iet them be combined into an inclusive life instinct. Ibid. p. 184.

३. कामायनी, पृ० ३०२

४. वही, पृ० ३०२

समर्पणशीलता

श्रद्धा की विशेषता उसकी समर्पणशीलता है जो व्यक्ति और बहिर्जगत् के तनाव को दूर कर दोनों में सामंजस्य उत्पन्न करती है। समर्पणशीलता सहयोग की प्रेरक है। यह समर्पणशीलता समष्टि के समक्ष व्यष्टि की अधीनता की वाचक या परिवेश की अंधी अधीनता की समानार्थक नहीं है। श्रद्धा कहीं भी इस प्रकार की कोई बात नहीं कहती। यह सदैव व्यक्ति और बहिर्जगत् के सामंजस्य और सौहार्द की बात कहती है। वह आत्म-विश्वास की वाहिका है, परिवेश के प्रति त्रास या भय या अधीनता की नहीं। उसके संदेशों में समर्पणशीलता की बात भी की गई है। इसलिए समर्पणशीलता को सौहार्द और सामंजस्य की प्रेरणा के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। व्यक्ति और परिवेश के तनाव के उन्मूलन की प्रेरणा के रूप में ही उसका उल्लेख हुआ है—

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं[1]

सौहार्द और सहयोग

मनु के समक्ष श्रद्धा के समर्पण और बहिर्जगत् के प्रति सौहार्द की प्रेरक भावनाओं के प्रस्तर्भाव से भी इस बात की पुष्टि होती है कि श्रद्धा की समर्पणशीलता, सहयोग और सामंजस्य की ही वाचक है—परिवेश के आगे त्रस्त होकर झुकने की नहीं। श्रद्धा मनु की आत्मकेन्द्रीयता को अस्वीकार करती हुई उनके साथ सहयोग का प्रस्ताव करती है और उन्हें अपने समर्पण के साथ दया, माया, ममता, विश्वास, सेवा-भावना तथा हृदय की उदारता प्रदान करती है—

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब,
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊं मैं बिना विलम्ब ?
समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय, रत्ननिधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।[2]

---

१. कामायनी, पृ० २०२।
२. वही, पृ० ६६–६७।

सेवा-भावना

इस हार्दिकता की अभिव्यक्ति एक ओर सेवाभाव के रूप में होती है तो दूसरी ओर उदात्त प्रेम के रूप में। श्रद्धा के व्यक्तित्व में सेवा-भाव का समाहार दिखलाने के लिए कवि ने रहस्य सर्ग में उसका चित्र उपस्थित करते हुए उसके हाथों में सेवा की स्थिति दिखलाई है—

सेवा कर पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी[1]

करुणा और वत्सलता

सेवा-भाव की पोषक वृत्तियों के रूप में करुणा और वत्सलता का उल्लेख भी श्रद्धा की विशेषताओं के अंतर्गत हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करुणा वत्सलता का ही विस्तार है।[2] इसलिए प्रसाद ने श्रद्धा को एक ओर जहाँ करुणामयी बतलाया है—

विश्व की करुण कामना मूर्ति
प्रकट करती जड़ में स्फूर्ति।[3]

वहीं दूसरी ओर उसे वात्सल्यमयी मातृमूर्ति के रूप में उपस्थित किया है—

यह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र[4]
× × ×
तुम देवि! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार[5]।

और इसी दृष्टि से मृदुलता और ममता की छाया के रूप में भी उसका उल्लेख हुआ है।

एक मृदुलता की ममता की
छाया रहती है हंसके[6]

---

१. कामायनी, पृ० २७१।

2. It is in virtue of such extensions to similar that when we see, or hear of, the illtreatment of any weak, defenceless creature tenderness and the protective impulses are aroused on its behalf.

—W. McDougall, Social Psychology, p. 64.

३. कामायनी, पृ० ५७।

४. वही, पृ० २५६।

५. वही, पृ० २६१।

६. वही; पृ० १२२।

कामगोत्रजा : उदात्त प्रेम की प्रतीक

श्रद्धा की अन्तिम परिणति या चरम सिद्धि उदात्त प्रेम के रूप मे दिखलाई देती है। कामायनी मे श्रद्धा की भूमिका मूलतः प्रेममार्गी है। वह काम की पुत्री निराश और हताश मनु को अपना प्रेम प्रदान कर जीवन का उद्बोधन करती है। उसी प्रेम की परिणति मनु और श्रद्धा के गार्हस्थ्य में होती है जिसका विस्तार पालतू पशु और कुमार-सम्भव से होता है। आत्मकेन्द्रित मनु इस विस्तार को स्वीकार नही करते, किन्तु अनुरागमयी श्रद्धा एक ओर अपने उदार प्रेम को पुत्र को ही नही पशु को भी प्रदान करती है तो दूसरी ओर रूठे हुए प्रियतम को भी मनाती है। इसीलिए कामायनी में उसके उल्लेखों मे उसकी प्रेमास्पदता का बाहुल्य है। कही प्रेम-ज्योति,[1] कही प्रेम-पत्नी,[2] कही अनुरागमयी,[3] कहीं स्नेहमयी,[4] कहीं वासना की मधुर छाया[5] और कही स्नेह की मधु रजनी[6] के रूप में उसका उल्लेख हुआ है। श्रद्धा का निवास क्षमा में बतलाया गया है जो उसकी क्षमाशीलता का द्योतक है—

हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती।[7]

क्षमाशीलता व्यक्ति और परिवेश के तनाव को दूर कर सामंजस्य में सहायक होती है। इसलिए सामंजस्य की दृष्टि से वह जीवन-ऊर्जा की उदात्तता के लिए अपरिहार्य है।

स्व का विस्तार

सामाजिक सामंजस्य (परिवेश के साथ सामंजस्य) के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति 'स्व' की संकुचित सीमाओं का उत्सर्ग करे। जब तक वह संकुचित स्व की परिधि मे बंधा रहेगा तब तक वह विसामंजस्य के कारण आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता। संकुचित स्व को, सीमाओं से मुक्त होकर— स्व का विस्तार

---

१ प्रतिफलित हुई सब आंखें
  उस प्रेम-ज्योति विमला से।—कामायनी, पृ० ३०६।

२. मिल जायेगा, हूं प्रेम-पत्नी—वही, पृ० २५५।

३. अनुराग भरी हूं मधुर घोल—वही, पृ० २४६।

४. लगी सिखाने स्नेहमयी-सी
  सुन्दरता की मृदु महिमा।—वही, पृ० २३४।

५. वासना की मधुर छाया, स्वास्थ्य बल विश्राम।—वही, पृ० ६७।

६. तुम अजस्र वर्षा सुहाग की,
  और स्नेह की मधु रजनी।—वही, पृ० २३८।

७. वही, पृ० २६१।

करके—ही वह आनन्द उपलब्ध कर सकता है, यह बात श्रद्धा की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—

प्रिय ! अब तक हो इतने सशंक
देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा वह बंधन—
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन[१]

एडलर ने भी स्व के इस विस्तार को मानव व्यवहार की अविकृतता का मानक माना है[२] जिससे प्रसाद की श्रद्धा नैतिकता की प्रतीक न रहकर मनोवैज्ञानिक जीवन पद्धति की प्रतीक बनकर हमारे समक्ष आती है।

घोर वैयक्तिकता का विरोध

व्यक्ति को संकुचित स्व की सीमाओं से निकालने के लिए ही वह घोर वैयक्तिकता—उस वैयक्तिकता का विरोध करती है जो उसके सामाजिक सामंजस्य में बाधक है। मुख्य रूप से वह उसकी स्वार्थपरता का विरोध करती है क्योंकि स्वार्थपरता के कारण व्यक्ति अपना ही हित चाहता है, अन्य का नहीं। फलतः वह बहिर्जगत् के प्रति सामंजस्य खो बैठता है। इसमें वह समाज के विकास में तो योग दे ही नहीं सकता, अपने विकास की संभावनाओं को भी नष्ट कर लेता है—[३]

सब कुछ अपने में भर
कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !
औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सबको सुखी बनाओ ।[४]

---

१. कामायनी, पृ० २६१।

2. Social feeling is the goal of perfection...... The normal feeling towarbs the community should be regard as an extension of the self.

—Lewis way, Adler's, Place in Psychology, P. 203.

3. ... ... ich
Individu ... ... ays
remain ... by
the way exercise over them by private fiction.

—Lewis way, Adler's place in Psychology, P. 194.

४. कामायनी, पृ०-१४२

सुख को अपने में सीमित कर
केवल दुःख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।[1]

इसलिए श्रद्धा लोगों को मिलाने पर उनके संश्लेषण पर बल देती है। यह संश्लेषण या मेल सामूहिकता या ओढ़वाद का समानार्थक न होकर सहयोग का प्रतीक है। मनु की निम्नलिखित उक्ति इसी ओर संकेत करती है—

तुमने मिलकर मुझे बताया
सबसे करते मेल चलो।

वह मनु के विसामंजस्य को पसंद नहीं करती और स्पष्ट शब्दों में सामंजस्य और सहयोग की बात कहती है—

ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।[2]

एडलर ने भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ऐसी ही बात कही है।[3]

इस प्रकार श्रद्धा सौहार्द और सामंजस्य का जो संदेश देती है उसके मूल में प्रेम है। कवि ने पुरुष की समस्या को स्त्री के समाधान के द्वारा सुलझवा कर भी इस ओर संकेत किया है। हताश मनु के जीवन में प्रेम भर कर श्रद्धा उसे आनंद की ओर ले जाने का बार-बार प्रयत्न करती है। मनु बार-बार पलायन करते हैं, किन्तु श्रद्धा बार-बार अपना सहयोग देकर अपने आपको प्रेम और सहयोग की सजीव प्रतिमा के रूप में उपस्थित करती है। जैसा कि एडलर ने कहा है—यौन भावना सहयोग की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति है।[4] इसी अर्थ में श्रद्धा काम की पुत्री होने की सार्थकता सिद्ध करती है।

निष्कर्ष—

इस विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद की श्रद्धा युंग की जीवन-ऊर्जा (लिबिडो) के उदात्त रूप और फ्रायड की जीवन-मूलप्रवृत्ति की प्रतीक है। दूसरे शब्दों में वह जीवन की मंगल शक्ति है—जीवन की अन्धानुरक्ति नहीं। इसीलिए वह एडलर की सामाजिक भावना के बहुत निकट है। वस्तुतः वह जीवन की रचनात्मक प्रवृत्ति की समानार्थक है।

---

१. कामायनी, पृ० १४३

२. कामायनी, पृ० २०१

3. Cooperation or working with life is very largely a question of approaching it on a basis of absolute equality and thus of entering upon every task with a right rythom ...: a tolerant equality is the only basis upon which adjustment can be successfully made.

 –Lewis way, Adler's Place in Psychology. p. 196-98.

4. Sex in the most intimate form human cooperation and frustration occurs when the cooperative spirit fails. Ibid, p. 224.

काम : स्वरूप-विश्लेषण

कामायनी के अन्य पात्रों में 'काम' का महत्त्व सर्वाधिक है क्योंकि (१) वह कामायनी–श्रद्धा–का जनक है और इसलिए अपनी पुत्री की अनेक चारित्रिक विशेषताओं का मूल स्रोत है—अतएव श्रद्धा को सम्यक् रूपेण समझने के लिए काम के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है; (२) प्रसाद के आनन्दवादी या आत्मवादी जीवन-दर्शन की धुरी काम है, जैसा कि उनके निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है—

"जब से हमने प्रेम को love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गयी। संभवतः विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेती है। इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों में 'कामकला' के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना–प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धान्तों में इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारम्भ किया है, उनमें काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे व्यापक रूप है।"[१]

+ + +

"प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनंद, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे, और आज के भी अन्यदेशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्दभावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, 'यह सेमेटिक है' कह कर संतोष कर लिया जाता है।"[२]

+ + +

"वैदिक साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इन्द्र की जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग है, वह उनके आनंद के अनुकूल ही है—सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनंद वाली धारा का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे—आत्मा में आनंद-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया।"[३]

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४७–४८।
२. वही, पृ० ४६।
३. वही, पृ० ५०।

इस प्रकार प्रसाद ने आनन्दवाद के मूलाधार काम को उसकी समग्र व्यापकता में मूलतः वैदिक साहित्य से ग्रहण किया है, किन्तु आधुनिक युग को मनोवैज्ञानिक शोधों का उन्होंने काम के स्वरूपांकन में उपयोग नहीं किया–यह कहना कठिन है क्योंकि कामायनी में काम के स्वरूपांकन पर आधुनिक मनोविज्ञान का प्रभाव दूर तक दिखलाई देता है। प्रसाद ने आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन किया था और साहित्य मे उसके यथार्थपरक विनियोग के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया भी व्यक्त की थी। स्वयं प्रसाद ही इसके साक्षी हैं–"व्यक्ति की दुर्बलता की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाना है और विषमता को ढूंढने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है।

......अपराधो के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध मे नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी ही प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्ही सामाजिक बंधनों की बाधा घातक समझ पड़ने लगती है, और इन बंधनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है।"[1]

साहित्य में मनोविज्ञान के इस यथार्थपरक विनियोग की प्रतिक्रिया कि परिणामस्वरूप उन्होंने कामायनी मे मनोविज्ञान का आदर्शपरक विनियोग किया है। एक ओर उन्होंने इच्छा, क्रिया, ज्ञान का समन्वय उपस्थित किया तो दूसरी ओर काम को उसकी समग्रता मे प्रस्तुत किया जिसमें उसके उदात्त और अनुदात्त दोनों रूपो का समाहार दिखाई देता है।

कामायनी में काम का स्वरूप इतना व्यापक एवं बहुमुखी है कि कामायनी के समीक्षक अभी तक उसको समग्र रूप में ग्रहण नहीं कर सके हैं। कामायनी के काम के विभिन्न पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् करके समझने के जो प्रयास अभी तक हुए हैं उनसे काम का व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न होकर ही पाठक तक पहुँचा है–मनोभाव के रूप में भी उसके विभिन्न पक्षों को एक दूसरे से स्वतन्त्र करके देखने पर उसकी विभिन्न विशेषताओं, उसके विभिन्न तत्त्वों और लक्षणो मे एकसूत्रता का बोध नहीं होता। निश्चय ही ऐसा करना प्रसाद के साथ अन्याय है। उन्होंने काम की विपुल व्यापकता के मध्य एक समग्र व्यक्तित्व–साथ ही एक समग्र और अखंड मनोभाव–उपस्थित किया है। इसलिए कामायनी के काम के साथ न्याय तभी हो सकता है जबकि उसके व्यापक स्वरूप के विश्लेषण मे उसके विविध पक्षों की व्याख्या करते हुए भी उसकी एकसूत्रता बाधित न होने दी जाए।

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२१–२२।

काम : एक प्यास

काम सर्ग में काम अपना परिचय देता हुआ अपने आपको एक तृष्णा के रूप में उपस्थित करता है। अतीत में वह देव-सृष्टि में तृष्णा विकसित करता था[1] और वर्तमान में भी वह अपनी चिर अतृप्त तृष्णा की बात कहता है—

प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ;
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।[2]

काम की यह प्यास आसक्ति की सूचक है। विषयों के प्रति प्रवृत्ति ही आसक्ति है। गीताकार ने भी काम और आसक्ति के इस घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख किया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥[3]

फ्रायड ने काम को 'क्षुधा' के समकक्ष बतलाया है–लिबिडो या राग बिलकुल क्षुधा की तरह है। यह वह बल है जिसके द्वारा नैसर्गिक यौन वृत्ति वैसे ही अपनी अभिव्यक्ति करती है जैसे पोषण की निसर्गवृत्ति भूख के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है।'[4] फ्रायड ने काम के अन्तर्गत प्रजनन अथवा जननेन्द्रियों की क्रिया के साथ सुखान्वेषण का अन्तर्भाव भी माना है।[5]

कामायनी में प्रसाद ने काम का जो स्वरूप उपस्थित किया है वह फ्रायड के दृष्टिकोण से बहुत मिलता है-केवल इसलिए नहीं कि प्रसाद ने उसे तृष्णा और भूख[6] कहा है और फ्रायड ने भी उसे भूख के समकक्ष बतलाया है। दोनों के दृष्टिकोण

---

१. मैं तृष्णा था विकसित करता
वह तृप्ति दिखाती थी उनको। —कामायनी, पृ० ८४।

२. कामायनी, पृ० ८१।

३. गीता २। ६२।

४. फ्रायड, मनोविश्लेषण, पृ० २७७ [अनु० देवेन्द्रकुमार वेदालंकार]

5. Reproduction is represented by the fully fleged sex desire of the adult, but also by any kind of pleasure-seeking which cannot be brought under the head of self preservation.
—R. S: Woodworth, Contemporary Schools of Psychology p. 179:

६. हम भूख प्यास से जाग उठे। —कामायनी, पृ० ८४।

में और भी कई समानताएं हैं । । फ्रायड काम को प्रजनन या लैंगिक क्रियाओं तक ही सीमित नहीं मानता है–"अधिकतर लोग 'यौन' या 'कामुक' को और प्रजनन-सम्बन्धी अथवा संक्षेप मे कहना चाहे तो 'जननेन्द्रिय सम्बन्धी' को एक ही बताते हैं जबकि हमें उन बातों को भी यौन या कामुक मानना पड़ता है जो जननेन्द्रिय सम्बन्धी नही हैं और जिनका प्रजनन से कोई सम्बन्ध नही है । सिर्फ ऊपरी सादृश्य है, पर इसका गहरा अर्थ भी अवश्य है ।"[1] प्रसाद ने काम सर्ग के आरम्भ में काम का जो स्वरूप उपस्थित किया है वह भी फ्रायड के दृष्टिकोण के समान बहुत व्यापक है । प्रलयोपरान्त कामानुभूति के प्रथम आवेग में मनु के मन में कोई लैंगिक भावना उत्पन्न न होकर इन्द्रियों के विभिन्न विषयों के प्रति एक साथ ललक उत्पन्न होती है—

पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श रूप रस गंध भरा
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ?[2]

इस प्रकार काम सर्ग के आरम्भ में काम किसी एक इन्द्रिय तक सीमित नही है–उसका सम्बन्ध सभी इन्द्रियों और सभी विषयों से है । विषयासक्ति को ही आरम्भ में प्रसाद ने काम के व्यापक रूप में उपस्थित किया है । काम भी अपना परिचय देते समय यह संकेत देता है कि वह मूलतः आकांक्षा (लालसा, प्रवृत्ति, अनुरक्ति, आसक्ति, वांछा) का वाचक है—

हम भूख-प्यास से जाग उठे
आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में,
रति-काम बने उस रचना में
जो रही नित्य यौवन वय में ।[3]

प्रसाद और फ्रायड की शब्दावली में आश्चर्यजनक साम्य है । फ्रायड के अनुसार काम में जो सुखान्वेषण की प्रवृत्ति है, उसी को प्रसाद ने आकांक्षा-तृप्ति समन्वय कहा है । सुखान्वेषण में सुख तृप्ति का सूचक है और अन्वेषण आकांक्षा का । वस्तुतः फ्रायड का बल भी अन्वेषण पर है, प्रसाद [redacted] आकाक्षा पर, किन्तु आकांक्षा या अन्वेषण की सार्थकता तृप्ति और सुख में है । इस प्रकार दोनो का मन्तव्य यह है कि काम की प्रक्रिया 'आकांक्षा' या 'अन्वेषण' में निहित है किन्तु उसका लक्ष्य तृप्ति या सुख है ।

---

१. फ्रायड, मनोविश्लेषण, पृ० २८५ ।
२. कामायनी, पृ० ७९ ।
३. वही, पृ० ८४ ।

कामानुभूति का व्यापक रूप

'काम' सर्ग के आरम्भ में प्रसाद ने कामावेग के जिस माधुर्यपूर्ण एवं मादक वातावरण का उल्लेख किया है वह फ्रायड के सुखान्वेषण-सिद्धान्त का मूर्त रूप उपस्थित करता है। इस प्रसंग में प्रसाद ने कामावेग के अन्तर्गत कहीं आमोद का समावेश किया है—

है अन्तरिक्ष आमोद भरा[1]

तो कहीं उल्लास का—

अविराम नाचता कंपन है
उल्लास सजीव हुआ कितना।[2]

एक ओर कामावेग जीवन की उमंग जगाता हुआ कर्मण्यता का प्रेरक बन जाता है—

अणुओं को है विश्राम कहाँ
यह कृतिमय वेग भरा कितना।[3]

तो दूसरी ओर वह मनुष्य को विलास की ओर भी प्रेरित कर सकता है —

उन नृत्य शिथिल निःश्वासों की
कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता-छनता
बनता है प्राणों की छाया।[4]

अपने समग्र रूप में काम जीवन-माधुर्य और मादकता का समाहार अपने में किये रहता है। प्रलयोपरांत मनु कामावेग की प्रथम अनुभूति से विह्वल होकर उसे जीवन के 'मधुर भार' की संज्ञा देते हैं —

जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के।[5]

इस अनुभूति को वे जिन शब्दों में व्यक्त करते हैं उनसे उसकी मादकता व्यंजित होती है—

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तन्द्रा को पास बुलाता है।[6]

---

१. कामायनी, पृ० ७४।
२. वही, पृ० ७५।
३. वही, पृ० ७५।
४. वही, पृ० ७६।
५. वही, पृ० ७६।
६. वही, पृ० ७७।

इस प्रकार काम से जीवन में जिस सुख की उपलब्धि होती है उससे मन (मनु) के संकल्पात्मक पक्ष को बल मिलता है और विकल्प-पक्ष क्षीण होता है—

नक्षत्रो तुम क्या देखोगे
इस ऊषा की लाली क्या है ?
संकल्प भर रहा है उनमें
संदेहों की जाली क्या है ?[१]

काम और अहं

कामावेग के क्षणों में मनुष्य का अहं विगलित होने लगता है और अपनी इन्द्रियों की माग के समक्ष उसकी "स्व"-विषयक चेतना पराभूत हो जाती है। इसलिए अहं-चैतन्य मनु कामावेग के क्षणों में अपने अहं को विगलित होते देखकर सहसा चौंक कर पूछते हैं—

चेतना इन्द्रियों की मेरी
मेरी ही हार बनेगी क्या ?[२]

मनु का यह प्रश्न एक बार पुनः फ्रायड के सिद्धान्तों का स्मरण दिला देता है। फ्रायड ने भी काम और अहं के द्वन्द्व की बात कही है। अहं काम के उन्मुक्त उपभोग में बाधक बनता है, फिर भी अहं काम की गति को सर्वथा कुंठित नहीं कर पाता।[३]

काम के दो रूप : आत्यंतिक और उदात्त

अपने आत्यन्तिक रूप में काम जिस विकास को जन्म देता है वह मानव के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो सकता। स्वयं काम इस तथ्य को स्वीकार करता हुआ कहता है—

देवों की सृष्टि विलीन हुई
अनुशीलन में अनुदिन मेरे।
मेरा अतिचार न बन्द हुआ
उन्मत्त रहा सबको घेरे।[४]

---

१. कामायनी, पृ० ७६।

२. वही, पृ० ७६।

3. One of freud's basic assumptions was that of a polarity of motives.... he adopted as his two motives the traditional biological instincts of self-preservation and reproduction... while libido seeks for immediate and uninhibited pleasure, ego is confronted by the realities of the physical and social environment which often makes it dangerous to gratify a desire.

—*R. S. Woodworth. Contemporary Schools of Psychology*, pp. 178—179.

४. कामायनी, पृ० ८१।

इसलिए काम मनुष्य की शीतल छाया में अपने इस कृत्य का प्रायश्चित करना चाहता है—

आरम्भिक वात्या उद्गम में
अब प्रगति बन रहा संसृति का,
मानव की शीतल छाया में
ऋणशोध करूंगा निज कृति का।[1]

काम की इस उक्ति का अभिप्राय यही है कि एक ओर काम का आत्यंतिक रूप विलास को जन्म देता है तो दूसरी ओर उसका मंगलमय रूप भी संभव है जो मनुष्य को कल्याण का मार्ग दिखला सकता है—कम से कम प्रसाद की दृष्टि में काम का यही रूप मनुष्य के लिए काम्य है जो काम की आत्मजा श्रद्धा के रूप में उपस्थित किया गया है। काम मनु के रूप में विकासमान मनुष्यता के मानसिक पक्ष को अपनी वही मंगलमय भेंट देता है। भेंट देते समय वह यह भी कह देता है कि योग्यता के बिना वह भेंट ग्रहण नहीं की जा सकती—काम का उदात्त रूप हर किसी के वश की बात नहीं, उसके लिए समग्र व्यक्तित्व का उन्नयन आवश्यक है—

जड़ चेतनता की गांठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की,
वह शीतलता है शांतिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की।
उसके पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो.........।[2]

प्रेमकला और कामकला की अभिन्नता ?

काम श्रद्धा का परिचय देते समय उसे सृष्टि-विकास की मूल शक्ति 'प्रेमकला' का संदेश देने वाली बतलाता है[3]। डा० फतहसिंह ने इस प्रेम-कला को प्रत्यभिज्ञा शैव-दर्शन की 'कामकला' का वाचक माना है—"प्रेमकला की कल्पना भी प्रसाद जी को शैवागम से ही मिली है। 'कामकला-विलास' नामक पुस्तक में उक्त चिति या मूल शक्ति को ही 'कामकला' कहा गया है। प्रेमकला इसी कामकला का रूपान्तर प्रतीत होता है।"[4] डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने भी डा० फतहसिंह के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'प्रेमकला' को 'कामकला' से अभिन्न माना है—'इसकी (विश्व की) उत्पत्ति उसी मूल शक्ति से सिद्ध की है, जिसको 'कामकला' न कहकर काम को प्रेम का पर्यायवाची मानने के कारण 'प्रेमकला' कहा है।'[5] इस सम्बन्ध में एक प्रश्न सहज ही खड़ा होता है

१. कामायनी, पृ० ८६।
२. वही, पृ० ८७।
३. यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।
—कामायनी, पृ० ८६।
४. कामायनी सौन्दर्य, पृ० २४७।
५. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० ४४३।

कि प्रसाद ने शवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली को ज्यों का त्यों न रखकर उसमें अपनी ओर से परिवर्तन क्यों किया ? छंद के आग्रह से तो परिवर्तन की कोई आवश्यकता थी ही नहीं। 'प्रेम-कला' के स्थान पर कामकला रखने से छन्द-रचना में तो कोई कठिनाई आती ही नहीं थी, प्रत्युत् अनुप्रास का सौन्दर्य बढ़ सकता था। तब क्या प्रसाद ने यह परिवर्तन जान-बूझकर, सोच-विचार कर नहीं किया है ? यदि ऐसा है तो वह प्रयोजन क्या हो सकता है जिसके लिए प्रसाद ने यह परिवर्तन किया है ?

वस्तुत: प्रेम काम का पर्यायवाची नहीं है (जैसा कि डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना मान बैठे हैं), प्रत्युत् उसका एक रूप है। काम जीवन के आनन्द-तत्त्व का मूल है [1] और प्रेम उस आनन्द तत्त्व का वह रूप है जो विपरीतलिंगीय व्यक्तियों में पारस्परिक साहचर्य की इच्छा उत्पन्न कर प्रजनन की प्रक्रिया को जन्म देता है जिससे सृष्टि-विकास को गति मिलती है—"यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जबसे हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गई। सम्भवत: विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का ही भान होने लगा।"[1]

काम और प्रजनन

प्रेम से साहचर्य की इच्छा उत्पन्न होती है। फ्रायड ने काम की अन्तिम परिणति प्रेम में मानी है जिसका सम्बन्ध प्रजनन से है—"आगे परिवर्द्धन को अधिक से अधिक संक्षेप में रखा जाए तो उसके दो लक्ष्य होते हैं: पहला आत्मकामुकता को छोड़ना, शिशु का अपने शरीर में प्राप्त आलम्बन को फिर त्याग कर बाहरी आलम्बन ग्रहण करना, और दूसरा, पृथक् आवेगों के बहुत से आलम्बनों को इकट्ठा मिला देना और उनके स्थान पर सिर्फ एक आलम्बन ग्रहण करना।"[1, 2] इस प्रकार इस सम्बन्ध में भी फ्रायड और प्रसाद की सहमति है कि काम की अन्तिम परिणति प्रजनन में है, यद्यपि काम प्रजनन तक ही सीमित नहीं है। इसीलिए प्रसाद ने काम को केवल प्रजनन में सीमित न रखते हुए भी उससे उद्भूत प्रेम को सृष्टि-विकास का मूल कहा है और श्रद्धा को उस प्रेमकला का-काम के उदात्त एवं परिष्कृत रूप का-संदेश देने वाली कहा है। श्रद्धा ऐसा ही करती भी है। [3] इसी अर्थ में वह काम की पुत्री है कि वह काम से उद्भूत परिष्कृत एवं उदात्त प्रेम का प्रतिनिधित्व करती है।

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० ४७।
२. मनोविश्लेषण, पृ० २६२।
३. द्रष्टव्य—श्रद्धा-विषयक विवेचन।

प्रजनन अथवा युग्म-भावना में काम को सीमित नहीं किया जा सकता, फिर भी उसका प्रकाशन मुख्यतया प्रजनन अथवा युग्म-भावना के रूप में ही होना है। फ्रायड ने इसी बात को लक्ष्य कर लिखा है—"जनसाधारण की दृष्टि से, जो सामान्य जीवन में सब प्रयोजनों के लिए काफी है, यौन वह चीज है जिसमें लिंग-भेद, आनन्द-जनक उत्तेजना और परितुष्टि, प्रजनन-कार्य, अनुचित की धारणा और छिपाने की आवश्यकता-सम्बन्धी सब बातें इकट्ठी आ जाती हैं।"[1]

काम और युग्म-निर्माण

'काम" सर्ग के अन्त की ओर जाते हुए प्रसाद ने भी काम के युग्मपरक रूप का मूर्तीकरण ही किया है। इस अंश में कवि ने विशेष रूप से युग्म-निर्माण और प्रजनन का ही चित्रण किया है जो फ्रायड के साथ उनके दृष्टि-साम्य का सूचक है—

भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।[2]

काम और संश्लेषण

कामायनी में काम को संश्लेषण-शक्ति के रूप में भी उपस्थित किया गया है जो विश्लिष्ट तत्त्वों को मिलाकर मादक वातावरण में नवीन सृष्टि को जन्म देता है—

कुंकुम का चूर्ण उड़ाते-से
मिलने को गले ललकते-से;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते-से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में
जिसको कहते सब सृष्टि बनी
मतवाली अपनी माया में।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रसाद ने स्पष्टतः काम के प्रजनन-सम्बन्धी पक्ष का चित्रण किया है जो मिलन की प्रक्रिया से नवीन सृष्टि का प्रेरक है।

---

१. मनोविश्लेषण, पृ० २६६।
२. कामायनी, पृ० ८३।
३. वही, पृ० ८३।

काम और कर्मण्यता

अन्ततः काम हार्दिकतापूर्ण कर्मण्यता की प्रेरणा देता है।[1] जड़ कर्म को आनन्द-समन्वित करने और कर्म को भीषणता के मध्य मानसिक शान्ति के लिए वह मनु को अपनी कन्या श्रद्धा समर्पित करने का प्रस्ताव करता है जिसका संकेत यह है कि अपर पक्ष के प्रति सहानुभूति, उदारता और हितैषिता के साथ ही मनुष्य को कर्म करना चाहिए।[2] सहानुभूति, उदारता और हितैषिता आदि जो प्रेम का अत्यन्त सूक्ष्म एवं उदात्त रूप होने के कारण श्रद्धा के व्यक्तित्व में संग्रथित हैं, मूलतः काम से उद्भूत हैं क्योंकि श्रद्धा भी तो काम की आत्मजा है।

काम का अभिशप्त रूप

वस्तुतः काम एक अमोघ शक्ति है, किन्तु भ्रान्तिवश लोग उसे अत्यन्त सकुचित रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए भ्रान्त अर्थ मे ग्रहण किया जाने पर लोग काम को भ्रम में डालने वाला और जीवन-सुख का शत्रु समझ बैठते हैं। काम के सम्बन्ध में इसी सामान्य भ्रान्ति का उल्लेख करते हुए मनु कहते हैं—

यह कौन ? अरे फिर वही काम।
जिसने हैं इस भ्रम में डाला, छीना जीवन का सुख-विराम ?[3]

अपने सम्बन्ध में उत्पन्न इस भ्रांति का उत्तर देते हुए काम यह बात स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य का अहं या उसकी स्वार्थी प्रवृत्ति से ही काम दूषित होता है, अपने में वह दूषित नहीं है—

कुछ मेरा हो यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।

मनु की इस स्वार्थी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही काम दूषित हुआ था जिसको मनु ने काम का ही दोष समझ लिया। अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप मनु ने काम की पुत्री श्रद्धा—प्रेम के उदात्त रूप - के साथ जो व्यवहार किया था, उससे अप्रसन्न होकर काम मनु को जो अभिशाप देता है वह वस्तुतः काम के अभिशप्त रूप का प्रतीक है जिसमें स्वार्थ से आवृत्त होकर प्रेम पुनीत नहीं रह जाता है।

---

१. अन्तर है दिन औ रजनी का, यह साधक कर्म बिखरता है,
माया के नीले अंचल में आलोक-बिन्दु-सा झरता है।
—कामायनी पृ० ८५।

२. जड़—चेतनता की गांठ वही।
सुलझन है भूल सुधारों की—वही, पृ० ७७ [अष्टम संस्करण]

३ वही, पृ० १६२ [अष्टम संस्करण];

४ वही पृ० १६३ [अष्टम संस्करण]

वह प्रेम न रह जाए पुनीत
अपने स्वार्थों से आवृत हो.मंगल रहस्य सकुचे सभीत [1]

× × ×

या कभी अपूर्ण अहता में हो रागमयी–सी महा शक्ति [2]

काम का अभिशाप

अभिशप्त काम-के परिणामस्वरूप मस्तिष्क और हृदय में सद्भाव नहीं रहता और एक-दूसरे का साथ नहीं देता। फलतः व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है—

मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नहीं,
वह चलने को जब कहे कहीं, तब हृदय विकल चल जाए कहीं।[3]

× × ×

तुम राग–विराग करो सबसे अपने को कर.शतशः विभक्त। [4]

फ्रायड ने भी काम-सम्बन्धी विवेचन में आधिपत्य और पीड़क तोष की चर्चा की है—"इस काल (शैशव) में हमें जननेन्द्रिय-कला के दृष्टिकोण से देखने पर जो चीज पुल्लिंग प्राप्त होती है, वह आधिपत्य के आवेग की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है, जो आसानी से क्रूरता में परिवर्तित हो जाती है।" [5] फ्रायड ने आधिपत्य को काम के प्रमुख घटक आवेगों में से एक माना है, [6] किन्तु प्रसाद ने उसे काम का अभिशप्त रूप मानने की ओर संकेत किया है।

काम का आरम्भ शैशव में

प्रसाद और फ्रायड के काम सम्बन्धी दृष्टिकोण में कई और भी अधिक सूक्ष्म एवं रोचक तुलनाओं के लिए अवकाश है। उदाहरण के लिए प्रसाद भी फ्रायड के समान ही काम का अस्तित्व शैशव से ही मानते हैं—

---

१. कामायनी पृ० १७१।
२. वही पृ० १७७।
३. वही पृ० १७७।
४. वही. पृ० १५७।
५. मनोविश्लेषण, पृ० २६१ (अनु० देवेन्द्रकुमार वेदालंकार)।
६. यौन निसर्गवृत्ति के कुछ घटक आवेगों का बिलकुल शुरू से कोई आलम्बन होता है और वे इसे कस कर पकड़े रहते हैं: ये आवेग हैं—आधिपत्य (पीड़क तोष), देखना और कुतूहल–मनोविश्लेषण, पृ० २६२।

शिशु चित्रकार चंचलता में
कितनी आशा चित्रित करते।
अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी
जीवन की आँखों में भरते। [1]

उपर्युक्त पंक्तियों मे शैशव की जिस अस्पष्ट काम-भावना की ओर संकेत किया गया है वह भी फ्रायड के दृष्टिकोण के अनुकूल है। फ्रायड ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"बचपन के बाद के वर्षों में शैशवीय कामुकता के व्यक्त रूप चाहे जितने असंदिग्ध रूप में दिखाई दें, पर प्रारम्भिक वर्षों में वे निश्चित ही इतने अस्पष्ट और हल्के होते हैं कि उन्हें निश्चित नाम देना कठिन है। [2]

प्रेम और घृणा का अन्तर्मिश्रण

इसी प्रकार प्रेम और घृणा के अन्तर्मिश्रण [3] के सम्बन्ध में भी दोनों के विचार लगभग एक-जैसे हैं। जिस प्रकार फ्रायड सामान्य व्यवहार में प्रेम और घृणा का अन्तर्मिश्रण मानता है, [4] उसी प्रकार प्रसाद ने भी अनेक स्थलों पर उक्त अन्तर्मिश्रण की ओर संकेत किया है। इड़ा पर बलात्कार के प्रयत्न में मनु के आहत होने पर इड़ा ही उनकी रखवाली करती है जिससे प्रसाद यह द्योतित करते है कि इड़ा एक ही साथ मनु को प्रेम भी करती है और घृणा भी। प्रसाद ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है —

इड़ा ग्लानि से भरी हुई
बस सोच रही बीती बातें।
घृणा और ममता में ऐसी
बीत चुकीं कितनी रातें।
× × ×
क्षमा और प्रतिशोध आह रे
दोनों की माया नचती
× × ×

---

१. कामायनी, पृ० ७४।

२. मनोविश्लेपण, पृ० २८४।

३. प्रसाद की "आकाशदीप" और "पुरस्कार" शीर्षक कहानियाँ इस प्रकार के अन्तर्मिश्रण का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

4. Any concrete motive is a fusion of love and hate......
—R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Pschology, P. 185.

इसे दण्ड देने में बैठी
या करती रखवाली मैं।[1]

'कर्म' सर्ग में प्रसाद ने स्पष्ट शब्दों में इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का उल्लेख किया है—

जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है,
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।[2]

अन्य पारिभाषिक शब्द

कामायनी में काम से सम्बन्धित अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है और प्रसाद ने अपनी ओर से उनकी परिभाषा भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह परिभाषा इतनी सांकेतिक है कि उसे ठीक से समझ पाना कई बार कठिन हो जाता है। रति, वासना, लज्जा आदि ऐसे ही पारिभाषिक शब्द हैं। विशेष रूप से रति और वासना की काम से भिन्नता इतनी सूक्ष्म है कि उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग सामान्य व्यवहार में काम के पर्यायवाची के रूप में देखने को मिलता है, किन्तु प्रसाद ने काम से उनकी भिन्नता स्वीकार की है और उस भिन्नता को अपनी ओर से स्पष्ट भी किया है।

काम और रति

पौराणिक दृष्टि से रति काम की पत्नी है—इसलिए काम से भिन्न होनी ही चाहिए। प्रसाद ने दोनों की भिन्नता इस रूप में मानी है कि काम तृष्णा, आसक्ति या आकांक्षा है और रति उसकी तुष्टि—

मैं तृष्णा था विकसित करता
वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द समन्वय होता था
हम ले चलते पथ पर उनको।[3]
× × ×
हम भूख-प्यास-से जाग उठे
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में,
रति-काम बने उस रचना में
जो रही नित्य यौवन वय में।[4]

---

१. कामायनी, पृ० २२३।
२. वही, पृ० १३७।
३. वही, पृ० ८४।
४. वही, पृ० ८४।

उपर्युक्त दोनो पद्यों में काम और काम-संतुष्टि का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है और काम तथा रति के साथ उन दोनो का स्पष्ट शब्दों में सम्बन्ध–निर्धारण किया गया है जिससे इस सम्बन्ध मे कोई शंका नही रह जाती कि प्रसाद के अनुसार दोनों (काम और रति) में क्या अन्तर है।

काम और वासना

सामान्य व्यवहार में वासना को कामुकता या शरीर-लिप्सा का वाचक शब्द माना जाता है, किन्तु प्रसाद ने इसे और भी विशिष्ट अर्थ मे ग्रहण किया है। 'वासना' सर्ग में प्रसाद ने शारीरिक भोग का चित्रण भी किया है [1] जो लोक-प्रचलित अर्थ के साथ उनकी सहमति का सूचक है, किन्तु प्रसाद उसका अर्थ और आगे तक ले गये है। उसका वह आवेगमय रूप जिसमें अधीरता, आकुलता, उन्माद और ज्वलनशीलता का समावेश होता है, वासना की संज्ञा मे अभिहित किया है। 'प्रसाद' ने वासना के अन्तर्गत उक्त सभी आवेगों का स्पष्ट उल्लेख किया है—

अधीरता — तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?[2]

आकुलता — धमनियों म वेदना - सा रक्त का संचार,
हृदय में है कांपती धड़कन, लिये लघु भार।[3]

उन्माद — यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद,
सखे तुमुल तरंग-सा उच्छ्वासमय संवाद।[4]

ज्वलनशीलता—अग्निकीट - समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह।[5]

कुल मिलाकर यह यौन उत्तेजना की स्थिति है जिसमें ज्वलनशीलता के साथ काम के सहज माधुर्य का समावेश होता है। प्रवृति, अशान्ति और आवेश इसी उत्तेजना के अंग हैं—

---

१. और वह नारीत्व का जो मूल, मधु अनुभाव
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव
मधुर व्रीडा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।
—कामायनी पृ० १०४।

२. वही, पृ० ६६।
३. वही, पृ० ६६।
४. वही, पृ० १०१।
५. वही, पृ० १००।

छूटतीं चिन्गारियां उत्तेजना उद्भ्रांत,
धधकती ज्वाला मधुर, था विकल वक्ष अशांत।
वातचक्र समान कुछ था बांधता आवेश
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।[१]

इस उत्तेजना के साथ आधिपत्य-लालसा का समावेश भी प्रसाद ने वासना में माना है। इस आधिपत्य – लालसा के परिणाम स्वरूप ईर्ष्या का अन्तर्भाव भी वासना में हो जाता है। कामालम्बन पर मेरा ही पूर्णाधिकार हो – इस प्रकार की भावना के परिणामस्वरूप उस पर किसी अन्य का किंचित् अधिकार भी सह्य नहीं होता। फ्रायड की दृष्टि से यही काम-भावना में मृत्यु-मूलप्रवृत्ति का समावेश हो जाता है।[2] इस प्रकार प्रसाद वासना के स्वरूपांकन में एक बार पुन. फ्रायड के दृष्टिकोण के निकट पहुँच जाते हैं जब वे वासना में मृत्यु-मूलप्रवृत्ति [काम-प्रतियोगी के प्रति ईर्ष्या] का अन्तर्भाव चित्रित करते है –

किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूंट हिचकी आह !
कौन देता है हृदय में वासनामय डाह ?
आह यह पशु और इतना सरल सुंदर स्नेह।
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह।
मैं ? कहां मैं ? ले लिया करते सभी निज भाग
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग।[३]
× × ×
हृदय का राजस्व अपहृत, कर अधिक अपराध।
दस्यु मुझ से चाहते हैं सुख सदा निर्बाध।[४]

इस प्रकार वासना काम के उस रूप की अभिव्यक्ति है जिसमें उसका माधुर्य प्रचुरांश में नष्ट हो जाता है और आधिपत्य-लालसाजन्य ईर्ष्या के ज्वलनशील आवेग के साथ उत्तेजना की आकुलतापूर्ण अनुभूति होती है। निश्चय ही काम का यह रूप कामायनीकार की दृष्टि में काम्य नहीं रहा है — यद्यपि इसकी प्रबलता को प्रसाद ने अस्वीकार नहीं किया है। इसीलिए श्रद्धा-काम के उदात्त रूप–के समक्ष प्रसाद ने उसका पराभव दिखलाया है—

---

१ कामायनी, पृ० १०२

2 Eros tends to bind men together in families, clan and even larger groups but with hostility and aggression for outsiders. Civilization develops through the conflict and fusion of these two major drives (love and hate).
—R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology. p. 186.

३ कामायनी, पृ० ६४।

४ वही, पृ० ६४।

नत हुआ फण दृप्त ईर्ष्या का, विलीन उमंग
और सहलाने लगा कर कमल कोमल कांत
देखकर वह रूप–सुषमा मनु हुए कुछ शांत।[1]

काम के अभिशाप में वासना (स्वार्थ एवं ईर्ष्यामिश्रित काम) का ही आत्यन्तिक रूप दिखलाई देता है जिससे यह संकेत मिलता है कि अपने आत्यंतिक रूप में वासना काम का अभिशाप–काम का अभिशप्त रूप है।

काम और ईर्ष्या

प्रसाद ने कामायनी में ईर्ष्या के उसी रूप का चित्रण किया है जिसका सम्बंध काम से है। मनु अपने प्रेमपात्र के प्रेम पर पूर्णाधिपत्य चाहते हैं–उसका वितरण उन्हें अच्छा नहीं लगता। जो भी उसके प्रेमपात्र का प्रेम बाटता है वही उनकी ईर्ष्या का पात्र बनता है। पहले वे पालतू पशु के प्रति ईर्ष्या करते हैं क्योंकि वह श्रद्धा का स्नेहभाजन बनता है–वस्तुत: वह पशु उस प्राणी का प्रतीक है जो हमारे प्रेमपात्र के प्रेम का भागीदार बनता है। तदुपरान्त वे अपने भावी पुत्र से ही ईर्ष्या करने लगते हैं क्योंकि उन्हें यह आशंका है कि वह उनकी प्रिया के प्रेम में हिस्सा बँटाएगा।

फ्रायड ने भी ईर्ष्या का जन्म प्रेम-विभाजन की पीड़ा से ही माना है। फ्रायड ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि पुत्र माता के प्रेम का भागीदार बनकर पिता का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है।[2] कामायनी में मनु इस प्रकार की ईर्ष्या से ग्रस्त हैं—

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूं बन एक तत्व।

---

१ कामायनी, पृ० ६५।

2 Usually the boy's libido fastens on the mother, the girl's on the father.... The boy in demanding sexual love from his mother, comes into rivalary with his father, and the girl becomes a rival of the mother for the fathar's love.
—R. S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology, p. 179.

यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बांटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना यह कभी नहीं
मैं लौटा लूंगा निज विचार।
तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न बिन्दु,
इस सुख नभ में मैं विचरूंगा
बन सकल कलाधर एक इन्दु। [1]

काम और लज्जा

रति और वासना के समान लज्जा भी काम से सम्बंधित है। आपाततः लज्जा काम संतुष्टि—रति में बाधक प्रतीत होती है, जैसा कि श्रद्धा के इन शब्दों से प्रकट होता है—

तुम कौन हृदय की परवशता
सारी स्वतन्त्रता छीन रही,
स्वच्छंद सुमन जो रहे खिले
जीवन वन से हो बीन रही। [2]

परन्तु मूलतः लज्जा रति की ही प्रतिकृति है, यह बात लज्जा की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—

"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूं" [3]

इसके साथ ही वह यह भी कहती है कि काम से वंचित होकर उसी (रति) ने वर्जनात्मक रूप धारण कर लिया। अतीत की असफलताओं के परिणाम स्वरूप वह अनुभूति में लज्जा रूप में बच रही—

मैं देव-सृष्टि की रति रानी
निज पंचवाण से वंचित हो,
बन आवर्जना मूर्ति-दीना
अपनी अतृप्ति सी संचित हो,
अवशिष्ट रह गई अनुभव में
अपनी अतीत असफलता-सी,

---

१ कामायनी, पृ० १६६।
२ वही, पृ० १०६।
३ वही, पृ० ११३

लीला विलास की खेद भरी
अवसादमयी श्रम-दलिता-सी।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों का संकेतार्थ यह है कि मानव जाति-की युग-युगो की काम विषयक असफलता–काम तुष्टि विषयक अवरोध और कुंठाएं--लज्जा के रूप में प्रतिफलित हुई हैं। हमारे पूर्वजों को युग-युगों से काम के सम्बंध में जो असफलता मिली, वही आनुवंशिक प्रक्रिया से लज्जा के रूप में हमारे संस्कारों में व्यक्त हुई है। हमारे पूर्वजों की काम-विषयक असफलताओं के संस्कारों ने लज्जा के रूप में वर्जनात्मक रूप ग्रहण कर लिया।

इस सम्बंध में फ्रायड का मत बिलकुल वही तो नहीं है जो प्रसाद का है, फिर भी वह बहुत कुछ उनके दृष्टिकोण से मिलता है। फ्रायड के अनुसार लज्जा का आविर्भाव पुरुषों की तुलना में स्त्री जाति की लैंगिक हीनता की भावना से हुआ है। स्त्रियों की लैंगिक हीनता को छिपाने के लिए प्रकृति ने उन्हें लज्जा का आवरण प्रदान किया है।[2] एक स्थल पर प्रसाद ने लगभग ऐसा ही संकेत दिया है—

यह आज समझ तो पाई हूं
मैं दुर्बलता में नारी हूं,
अवयव की सुंदर कोमलता,
लेकर मैं सबसे हारी हूं।
पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है,
घनश्याम-खंड सी आंखों में
क्यों सहसा जल भर आता है।[3]

फिर भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त पंक्तियों में नारी की शारीरिक दुर्बलता का सम्बंध लैंगिक हीनता से ही बतलाया गया है, इतना अवश्य है

१ वही, पृ० ११२–११३।

२ Modesty, which is regarded as par excellence a characterstic of women, but is far more a matter of convention than one would think, was in our opinion originally designed to hide the deficiency in their genitials. We donot forget that, later on, it takes over other functions.Peoople say that women contributed but little to the discoveries and inventions of civilization, but perhaps after all they discovered one technical process, that of plaiting and weaving. If this is so, one is tempted to guess at the unconscious motive at the back of this achievement.

S. Freud, New Introductory Lectures on Psychonalysis, p. 170.

३ वही, पृ० ११४।

कि प्रसाद ने लज्जा के रूप में आविर्भूत मानव-जाति कि युगयुगीन काम-प्रतृप्ति की जो बात कही है वह नारी की लैंगिक हीनता को अपने में समेट लेती है क्योंकि लैंगिक हीनता भी काम-प्रतृप्ति का एक रूप है।

निष्कर्ष

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद ने काम का जो स्वरूप कामायनी में उपस्थित किया है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त गंभीर एवं सूक्ष्म है। उसमें मात्र वैदिक काम को खोजने से उसका स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। उस दृष्टि से विचार करने पर काम की समग्रता समझ में नहीं आ सकती। इसलिए समालोचक उसको सामान्य काम और विशेष काम के रूप में पृथक्-पृथक् समझने का प्रयत्न करता है[1] जिससे उसकी समग्रता बाधित होती है। वस्तुतः काम एक और समग्र व्यक्तित्व है जो बहुत व्यापक है। वह जीवन की ललक है, तृष्णा है, प्रवृत्ति है। वह विषयासक्ति है जिसका चरम विकास युग्म-निर्माण, प्रेम और संश्लेषण—अर्थात् प्रजनन के रूप में होता है प्रजनन और युग्म-निर्माण की प्रक्रिया में आधिपत्य-लालसा तथा स्वार्थ के समावेश से दूषित होकर काम अभिशप्त रूप में प्रकट होता है, किन्तु अपने उदात्त रूप में वह जगत्त की मंगलशक्ति का रूप ले सकता है जिसका प्रतिविधान कामायनी की श्रद्धा में दिखलाई देता है।

१—द्रष्टव्य, डा० रामलालसिंह कृत 'कामायनी-अनुशीलन' पृ० २०८-११

अध्याय ४

इड़ा : प्रतीक-विश्लेषण

मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक इतिहास में एक युग का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से तो कामायनी की इड़ा का प्रतीकार्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है ही, व्यक्ति की चेतनाशक्ति के एक पक्ष की दृष्टि से भी उसकी भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। कामायनी में वह मनु को उस समय प्रश्रय देती है जब वे श्रद्धा के साथ निर्वाह करने में अपने को असमर्थ पाकर उससे पलायन कर जाते हैं। उस समय इड़ा उन्हें अपनाती है, किन्तु उसके उपरान्त मनु के जीवन मे संघर्ष, कोलाहल और कलह और भी अधिक उग्र रूप में दिखलाई देते हैं। निश्चित रूप से इसके लिए इड़ा पूर्णतया उत्तरदायी नहीं है। कामायनी में प्रसाद ने इड़ा का जो भव्य चित्र अंकित किया है, उससे इड़ा के प्रति कवि की सहानुभूति ही व्यक्त होती है। वस्तुतः मनु की उच्छृंखल प्रकृति ही अधिकांश मे अपने दुर्भाग्य के लिए उत्तरदायी है, फिर भी कामायनी की अनेक उक्तियों से यह विदित होता है कि इड़ा का लक्ष्य जनकल्याण होते हुए भी उसका मार्ग बड़ा ही विषम एवं उलझनपूर्ण है और संघर्ष उसकी अपरिहार्य परिणति है।

ऐसे विरोधाभासपूर्ण व्यक्तित्व से युक्त इड़ा की प्रतीकात्मकता इसलिए बहुत ही महत्वपूर्ण है कि प्रायः मनुष्य श्रद्धा-विहीनता की स्थिति में उसी का अवलम्ब ग्रहण करते हैं और उस मार्ग पर चलकर अपने आपको संघर्ष मे डाल देते हैं। यह संघर्ष काम्य है या नहीं ? यह एक पृथक प्रश्न है, किन्तु इतना निश्चित है कि इड़ा के अवलम्बन की अंतिम परिणति संघर्ष में है। इसलिए इड़ा के प्रतीकार्थ का विश्लेषण कामायनी के फलितार्थ को समझने के लिए बहुत आवश्यक है।

कोषगत अर्थ

'इड़ा' को समझने के लिए सर्वप्रथम उसके कोषगत अर्थ का विचार करना चाहिए। कोषों में 'इड़ा' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। कामायनी के आमुख मे उद्धृत अमरकोष के अनुसार 'इड़ा' का अर्थ है गो, भू, वाच, इला।[1] हलायुध कोष मे इड़ा के जो अर्थ दिये गये हैं उनमे वाम नाड़ी, पृथ्वी, बुध ग्रह की पत्नी, इक्ष्वाकु राज-कन्या, गौ, वचन, एकदेवी का उल्लेख है।[2] 'वाचस्पत्यम्' में इसका प्रयोग गौ, वाणी,

---

१ गो भू वाचस्त्विड़ाइला —(अमर), कामायनी, आमुख, पृ० ७।

२ हलायुधकोष, पृ० १६०।

भूमि और एक नाडी के अर्थ में माना गया है। [1] आप्टे ने भी इसके अर्थों में पृथ्वी, वाणी, खाद्य, गो, एक देवी और मनु-पुत्री का उल्लेख किया है। [2] श्री रामचंद्र वर्मा ने भी लगभग यही अर्थ दिये हैं। [3]

'आमुख' का साक्ष्य

'प्रसाद' ने इड़ा के उपर्युक्त अर्थों में से किसी को ग्रहण नहीं किया है, प्रत्युत् वे इडा के पृथ्वी वाले अर्थ के सहारे उसे बुद्धि के अर्थ तक खींच ले गये हैं—'लौकिक [illegible] अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है। [4] वास्तविकता

[illegible]
ने किया है। कामायनी के आमुख
तिष्ठित किया है कि वैदिक साहित्य
गया है—"सरस्वतीं साधयन्ती धियं
रेदमच्छिद्र पान्तु शरणं निषद्य।"
ो बोध या चेत देने वाली कहा गया

रुष्वदिह चेतयन्ती।"
साद को इडा का प्रयोग बुद्धि
वाचक अर्थ के सहारे उसे बुद्धि का
ं को वैदिक स्रोत से गृहीत मानते
स्वयं द्वारा गृहीत अर्थ की प्रामा-
बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य
सभवत: इड़ा को पृथ्वी आदि
ड़ा और सरस्वती के साथ मही
वीर्मयोभुव:' से मालूम पड़ता है
ने भी कहा गया है।" [7] हलायुध
भवत: उसका संकेत भी बुद्धि की

स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद की दृष्टि में इडा शब्द के दो मुख्य अर्थ रहे हैं— (१) बुद्धि, (२) पृथ्वी। इनमें से

१ 'गवि, वाचि, भूमौ, नाडी भेदे'—वाचस्पत्यम्, द्वितीय खण्ड, पृ० ९२० ।
2 Apte's Sanskirt Dictionary. 93।
३ प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ. १२१। ४ कामायनी, आमुख, पृ० ७।
५ वही, पृ० ६। ६ वही पृ० ६।
७ वही पृ० ७।

प्रथम क प्रति उनका आग्रह रहा है, फिर भी कामायनी की अनेक उक्तियों से इस बात की पुष्टि होती है कि दूसरे अर्थ का समावेश भी प्रसाद ने कामायनी में किया है और डा० फतहसिंह ने इसी आधार पर इड़ा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसकी पार्थिवता पर बल दिया है।

डा० फतहसिंह की व्याख्या

डा० फतहसिंह के शब्दों मे "इड़ा इसी दुनिया की नारी है, जिसका झुकाव भौतिक-वादकी ओर मालूम होता है। जगत् की अपूर्णता पर उसे क्षोभ है और उसके स्रष्टा के प्रति वह संदेह और उपेक्षा का भाव रखती है।

तब क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणी को करने को सभीत,
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत।
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी,
उसका अधिपति ! होगा कोई जिस तक दुख की न पुकार गयी।

लोग किसी सुदूर 'ज्योतिर्मय परलोक' की बात करते हैं परन्तु वह उसके किस काम का ? वह तो नियति-जाल से छुटकारा पाने की पक्षपातिनी है:

उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन देकर अपनी मेरी स्वतंत्रता में सहाय,
क्या बन सकता है नियति-जाल से मुक्तिदान का कर उपाय ?

उसे अपने ही बुद्धिबल का भरोसा है और अपने अभीष्ट साधन के लिए वह अखिल लोक में पथ फैलाने वाले 'विज्ञान का सहज साधन उपाय' का अवलम्बन श्रेष्ठ समझती है:

हां तुम अपने ही हो सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाय,
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।

इड़ा के इस व्यक्तित्व में क्या है ? अतीन्द्रिय और अव्यक्त के प्रति उपेक्षा तथा अश्रद्धा, प्रत्यक्ष में विश्वास, बुद्धि एवं विज्ञान का भरोसा और आत्माभिमानमूलक स्वाव-लम्बन। यह बुद्धिवाद की तथाकथित क्रियात्मकता है, इसलिए उसके कथन को सुनकर मनु कहता है—

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहां पाया।" [1]

कामायनी के उद्धरणों मे पुष्ट इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि डा० फतह-

---

१ कामायनी-सौन्दर्य, पृ ६२-६३।

सिंह इड़ा को मूलतः भौतिकता या पार्थिवता की प्रतीक मानते हैं [1] और इड़ा का बुद्धिवाद उसकी भौतिकता या पार्थिवता की सहज परिणति है। [2] वस्तुतः प्रसाद का मन्तव्य ऐसा नहीं रहा है। उपर्युक्त लम्बे उद्धरण में कामायनी से उद्धृत अंतिम पंक्ति से इसी मत की पुष्टि होती है कि इड़ा को प्रसाद ने बुद्धि की ही प्रतीक माना है। इतना अवश्य है कि उसके व्यक्तित्व में पार्थिवता या भौतिकता का समावेश भी है। वह पार्थिवबुद्धि की प्रतीक है।

इस अर्थ में इड़ा की प्रतीकात्मकता की पुष्टि कामायनी में उसके बहुविध उल्लेखों, उसकी उक्तियों तथा उसके कृत्यों से होती है।

बहुविध उल्लेख

कामायनी में इड़ा के सम्बंध में जिन शब्दों का प्रयोग किया है उन पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ओर उसका उल्लेख स्पष्टतः बुद्धि के पर्याय के रूप में हुआ है तो दूसरी ओर उसे चेतना का प्रतीक भी माना गया है। इसके साथ ही उसे आस्थाहीन चिर तृष्णा का रूप भी दिया गया है जो उसकी पार्थिवता या भौतिकता की ओर से संकेत करता है।

बुद्धि के प्रतिकार्थ में इड़ा के उपस्थापन की पुष्टि मुख्यतया इस बात से होती है कि कामायनी में इड़ा को अनेक स्थानों पर स्पष्टतः बुद्धि का वाचक कहा गया है, जैसे—

जो बुद्धि कहे उसको न मान फिर किसकी नर शरण जाय। [3]

× × ×

मैं मदा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहां पाया।। [4]

एक स्थान पर इड़ा के मुख को कवि ने 'प्रतिभा-प्रसन्न' कहा है जिससे उसके बुद्धि-विषयक अर्थ की ओर ही संकेत मिलता है—

प्रतिभा-प्रसन्न मुख सहज खोल

वह बोली, मैं हूं इड़ा, कहो तुम कौन यहां पर रहे डोल ? [5]

अन्यत्र उसे 'तर्कमयी' कहकर भी बुद्धि की प्रतीक मानने की ओर ही संकेत किया है—

ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर। [6]

---

१ इड़ा इसी दुनिया की नारी है जिसका झुकाव भौतिकवाद की ओर मालूम होता है।—वही, पृ० ६२।

२ उसे अपने ही बुद्धिबल का भरोसा है और अपने अभीष्ट साधन के लिए वह अखिल लोक में पथ फैलाने वाले 'विज्ञान का सहज साधन उपाय' का अवलम्बन श्रेष्ठ समझती है। वही, पृ० ६३

३ कामायनी, पृ० १८२ ४ वही, पृ० १८४

५ कामायनी, पृ० १८१।

६ वही, पृ० २५३।

बुद्धि चेतनता या जागरूकता का आधार है—इसलिए कवि ने अनेक स्थानों पर इड़ा का उल्लेख चेतनता के रूप में भी किया है—

आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी वह हेमवती छाया।[1]

\+ \+ \+

बोल अरी मेरी चेतनते ! तू किसकी ये किसके हैं ?[2]

समस्त वैज्ञानिक विकास का मूल होने के नाते इड़ा को 'विज्ञानमयी अभिलाषा' कहकर भी इसके बुद्धिपरक अर्थ का द्योतन ही कवि ने किया है—

वह विज्ञानमयी अभिलाषा पंख लगाकर उड़ने की।[3]

दूसरी ओर इड़ा की भौतिकता की ओर संकेत करने वाले अनेक उल्लेख भी कामायनी में मिलते हैं। एक स्थान पर उसे स्पष्ट शब्दों में उस सारस्वत प्रदेश की रानी कहा गया है जो भौतिक हलचलों से अशांत हो उठा था—

भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा।[4]

इस भौतिकता विषयक प्रतिकार्य को दृष्टि में रखते हुए कवि ने उसे श्रद्धा के मुख से जीवन की अन्धानुरक्ति कहलवाया है -

तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।[5]

और भौतिकता के अर्थ में उसे ग्रहण करते हुए ही कवि ने उसे आमरु की अमिट प्यास एवं विश्वासशून्य भी कहा है—

इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नहीं,
तृपित कंठ को, पी-पीकर भी, जिसमें है विश्वास नहीं।[6]

चिर अतृप्ति, महत्वाकांक्षा और भौतिक कर्मों की तीव्र प्रेरणा भी इसी भौतिक चेतना या भौतिक बुद्धि की परिणति है। अपनी इस परिणति के रूप में वह भौतिक विकास द्वारा जगत् का कल्याण भी करती है, साथ ही वह मनुष्य को सदैव अतृप्ति से पीड़ित भी करती है। इसलिए कवि ने जहां उसे एक ओर 'जनपद-कल्याणी' कहा है —

मैं जनपद कल्याणी प्रसिद्ध।[7]

---

१ वही, पृ० १८१।
२ वही, पृ० १६६।
३ वही, पृ० १६८।
४ वही, पृ० १८१।
५ वही, पृ० २४६।
६ वही, पृ० १६५।
७ कामायनी, पृ० २११।

और उसे उन्नति की सीढ़ी बतलाया है तथा 'तीव्र प्रेरणा की धारा' कहा है—

उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृंग-सी, श्रांति नहीं,
तीव्र प्रेरणा की धारा-सी, बही वहीं उत्साह भरी।[1]

वहीं दूसरी ओर उसे परम ज्वलनशील भी कहा है जिससे उसकी अतृप्ति सूचित होती है। इस अर्थ के द्योतन के लिए कवि ने उसे कहीं 'वैश्वानर की ज्वाला-सी'[2] कहीं अग्नि-शिखा[3] और कहीं 'जलती छाती की दाह'[4] कहा है। इस प्रकार इड़ा के प्रतीकार्थ के उभय पक्षों—बुद्धि और भौतिकता—का स्पष्ट उल्लेख करते हुए प्रसाद ने एक स्थान पर उसके उक्त दोनों पक्षों का समावेश एक साथ किया है। उन्होंने उसे 'मनु के मस्तिष्क की चिर अतृप्ति'[5] कहा है जिससे उसके बुद्धि-विषयक अर्थ [मनु के मस्तिष्क] के साथ उसकी भौतिकताजन्य चिर अतृप्ति का बोध भी हो जाता है।

इड़ा का रूप-चित्रण

'कामायनी' में इड़ा के बहुविध उल्लेखों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है उसकी पुष्टि इड़ा के रूप-चित्रण से भी होती है। कामायनी में मनु से इड़ा की जब प्रथम भेंट होती है उस समय उसका रूप चित्रित करते हुए प्रसाद ने उसकी अलकों को तर्क-जाल के समान बतलाया है और वक्षस्थल पर समस्त सृष्टि के विज्ञान ज्ञान धारण करने के साथ उसके एक हाथ में कर्मकलश तथा दूसरे हाथ पर विचारों के आकाश का अवलम्बन चित्रित किया है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल!
+ + +
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन-रस-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।[6]

---

१ वही, पृ० १६३।
२ वह वैश्वानर की ज्वाला-सी मंच-वेदिका पर बैठी, —वही, पृ० १६५
३ स्वयं इड़ा उस पर बैठी थी
अग्निशिखा-सी धधक रही।—वही पृ० २१८।
४ तू क्षमा न कर कुछ चाह रही।
जलती छाती की दाह रही—वही, पृ० २५४।
५ कामायनी पृ० २४६।
६ कामायनी, पृ० १८०।

तर्क-जाल जैसी अलकों तथा वक्षस्थल पर विज्ञान ज्ञान धारण करने एवं विचारों को अवलम्ब देने का सम्बंध बुद्धि से है क्योंकि तर्क बुद्धि का कर्म है, और विचारो एवं हाथ में 'वसुधा-जीवन-रस सार' से परिपूर्ण कर्म-कलश का जो उल्लेख है उसका आशय यही है कि वह भौतिक कर्मों की प्रेरक है अथवा भौतिक कर्मों से सन्निविष्ट है। इस प्रकार यहा कामायनीकार ने इड़ा का जो रूप चित्रित किया है उसमें भी इड़ा को एक साथ बुद्धि और भौतिकता के प्रतीक रूप मे उपस्थित किया है।

इसके साथ ही प्रसाद ने इड़ा को जीवन-उमंग से शून्य तथा अन्तर्मुख प्रवृत्ति की बतलाया है जिसमे यह संकेत मिलता है कि इड़ा मे बौद्धिकता की शुष्कता और चिंतन की अन्तर्मुख प्रवृत्ति का समावेश भी है—

नीरव थी प्राणों की पुकार !
मूर्च्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार ।
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार ।
पीता मन-मुकुलित-कंज आप अपनी मधु बूंदें मधुर मौन। [1]

इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि प्रसाद ने इड़ा को बुद्धि का प्रतीक माना है और उसमें भौतिकता का समावेश भी जहां-तहां कर दिया है जिससे वह बुद्धिवाद से घनिष्ट रूप में सम्बंधित जान पड़ती है—

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया,
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहां पाया। [2]

इड़ा के सम्बंध में परस्पर विरोधी उक्तियां

कामायनी मे इड़ा के सम्बध में कहीं-कहीं परस्पर विरोधी उल्लेख भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर इड़ा को जीवन की उमंग से शून्य और अचंचल तथा अन्तर्मुखी कहा है [3] तो दूसरे स्थान पर उसे 'जीवन की अन्धानुरक्ति,[4] 'उत्तेजित चंचला शक्ति' [5] तथा 'प्रभापूर्ण आकर्षण' [6] कहा है। इस विरोधाभास का हल क्या है ? क्या प्रसाद भूल गये थे कि दूसरे स्थान पर वे बिलकुल विरोधी रूप में उसका चित्रण कर चुके थे ?

---

१ वही पृ० १८१। २ वही, पृ० १८४।
३ नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार।
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार।
पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूंदें मधुर मौन।
कामायनी, पृ० १८१
४ तुम जीवन की अन्धानुरक्ति,—वही, पृ० २४६।
५ तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।—वही, पृ० २४६।
६ प्रभापूर्ण तव मुख निहार,'मनु हतचेतन थे एक बार। वही, पृ० २५०

ऐसी बात नहीं है। बुद्धि अपने आप में जीवन की उमंग से शून्य, अचंचल तथा अन्तर्मुखी होती है, किन्तु भौतिकता में जब उसकी परिणति होती है तब वह जीवन की अन्धानुरक्ति उत्तेजनमयी चंचलता तथा बाह्य आकर्षण का रूप ले लेती है। उदाहरण के लिए आज का भौतिक विज्ञान जिस बुद्धि की उपज है वह शांत, एकाग्र और अन्तर्मुख ही है, किन्तु उससे उत्पन्न विज्ञान ने जो देन दी है उससे जीवन में अन्धानुरक्ति चंचलता तथा बाह्य (भौतिक) आकर्षण उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार कारण-रूप में जो बुद्धि अचंचल शांत और अन्तर्मुख है, वही कार्य-रूप में अन्धानुरक्तिपूर्ण, चंचल और आकर्षणमयी है।

इड़ा की जीवन-दृष्टि

मनु के साथ इड़ा का जो वार्तालाप होता है उसमें व्यक्त इड़ा की जीवन-दृष्टि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इड़ा के व्यक्तित्व में बौद्धिकता और भौतिकता दोनों का समावेश है। बौद्धिकता या बुद्धि के रूप में वह नियमन पर बल देती है—

और कह रही किन्तु नियामक नियम न माने।
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ-सा निश्चित जाने॥ [1]

इसलिए वह नियमन द्वारा व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर मार्ग का निर्देश करती हुई लोकसुख के साथ अपने सुख के सामंजस्य पर बल देती है।

यह जीवन-उपयोग यही है बुद्धि-साधना,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की आराधना।
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में। [2]

इसके साथ ही वह मनुष्य के स्वावलम्बन पर बल देती है। वह किसी अन्य के समक्ष मानव की याचकता उचित नहीं समझती। वह प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन द्वारा मनुष्यता का अभ्युदय चाहती है। यह अभ्युदय साम्यवाद और पूंजीवाद दोनों में से किसी में हो सकता है क्योंकि दोनों ही भौतिकवाद में अन्तर्भूत हैं—दोनों ही मनुष्य और इस जगत् को ही चरम सत्य मानते हैं। इस प्रकार इड़ा मनु को भौतिकता की ओर प्रेरित करने वाली बुद्धि के रूप में प्रतिष्ठित होती है—

कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे,
अपनी दुर्बलता-बल सम्हाल, गंतव्य मार्ग पर पैर धरे,
मत कर पसार, निज पैरों चल चलने को जिसको रहे झोंक।
उसको कब कोई सके रोक। [3]

× × ×

१ कामायनी पृ० २०४। २ वही, पृ० २०१। ३ कामायनी पृ०

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यमयी शोधक-विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता ।[1]

'हो कहीं विषमता या समता' से स्पष्टतः इस बात की ओर संकेत मिलता है कि पूंजीवादी (विषमता) या साम्यवादी (समता) दोनों में से कोई भी जीवन-दर्शन हो, मनुष्य और जगत् ही चरम साध्य होना चाहिए। इस प्रकार इड़ा का दृष्टिकोण श्रेयान्वेषी, किन्तु नितान्त भौतिक और बौद्धिक (नियमनपरक) है।

श्रद्धा और इड़ा जीवन-दृष्टि की तुलना

श्रद्धा के साथ तुलना करने से इड़ा की यह विशेषता स्पष्टतर हो जाती है। श्रद्धा और इड़ा दोनों मनु (मन) को कल्याण-मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु श्रद्धा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग आनन्द-मार्ग है। वहाँ श्रेय और प्रेय का समन्वय है-कर्म का भोग-भोग का कर्म है। श्रद्धा के सदेश में प्रकृति पर विजय भी सम्मिलित है, किन्तु उसकी प्रणाली समन्वय की प्रणाली है। शक्ति के बिखरे हुए विद्युत्कणों के समन्वय के द्वारा वह मानवता को विजयिनी देखना चाहती है। पारस्परिक सद्भाव का सदेश देकर वह मनुष्यों को एक दूसरे के साथ मेल करना सिखाती है। वह विश्वमंगल की कामना करती हुई भी उसे महाचिति का उन्मीलन मानती है। इसके विपरीत इड़ा मनुष्य और जगत् को ही परम सत्य और चरम साध्य मानती है और नियमन तथा भौतिक प्रगति–जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगिक समृद्धि और विलास की अभिवृद्धि सम्मिलित है – के द्वारा मनुष्य को कल्याण –मार्ग पर ले चलना चाहती है। इस प्रकार वह भौतिक बुद्धि के रूप में हार्दिकता (श्रद्धा) से भिन्न मार्ग के अवलम्बन पर बल देती है।

इड़ा का कार्य

कामायनी में इड़ा के कर्तृत्व की जो चर्चा मिलती है, उसमें नियमन और भौतिक संघर्ष की प्रमुखता है। इड़ा को विकल्पों के मध्य संकल्प करने वाली और सुख–साधना में योग देने वाली कहा गया है इड़ा के सम्पर्क में आने पर मनु यही चाहते हैं –

---

१ वही, पृ० १८३।

मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मो की पुकार–
सुख-साधन का हो खुला द्वार ।[1]

भारतीय दर्शन में बुद्धि का कार्य ऐसा ही बताया गया है–"बुद्धि का असाधारण व्यापार अध्यवसाय या विनिश्चय करना है ।"[2]

कामायनी में बुद्धि के नियमन व्यापार को अधिक महत्व दिया गया है । मनु को इड़ा के सम्बन्ध में यही शिकायत है कि वह उन्हें नियम–परतंत्र बनाना चाहती है –

इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना ।[3]

वह सभी के कल्याण और सुख के लिए व्यवस्था को जन्म देती है । व्यवस्था में किसी को असीम अधिकार नहीं दिया जाता । दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक के अधिकार सीमित कर दिए जाते हैं । इस प्रकार इड़ा नियमन द्वारा व्यवस्था को जन्म देती है, जिसका एक परिणाम चतुर्वर्णमयी समाज–व्यवस्था के जन्म के रूप में व्यक्त होता है –

चार वर्ण बन गये, बंटा श्रम उनका अपना[4]

इस श्रम विभाजन का दूसरा परिणाम वर्ग–संघर्ष के रूप में व्यक्त होता है । वर्ण–व्यवस्था भी एक प्रकार का वर्ग–विभाजन ही है । वर्ग–सृष्टि के परिणाम स्वरूप संघर्ष का उदय होता है । एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति विद्रोह करता है, जिससे संघर्ष प्रारंभ होता है । इसलिए मनु इड़ा से कहते हैं –

मूर्तिमती अभीशाप बनी–सी सम्मुख आयी ,
तुमने ही संघर्ष-भूमिका मुझे दिखायी
रुधिर भरी वेदियां, भयकारी उनमेंउ वाला
विनयन का उपचार तुम्हीं से सीख निकाला[5]

प्रजा द्वारा विद्रोह किया जाने पर मनु अपने शासन की सार्थकता सिद्ध करते हुए यही बतलाते हैं कि बुद्धि के मंत्री के रूप में उन्होंने श्रम–विभाजन कर वर्ग-रचना

---

१ कामायनी, पृ० १८४ ।
२ भारतीय मनोविज्ञान (सं० श्री नारायण शास्त्री द्राविड़) , पृ० २२ ।
३ कामायनी , पृ० २२ ।
४ वही पृ० २०८ ।
५ कामायनी , पृ० २०८ ।

की ओर प्रकृति पर विजय प्राप्त कर यांत्रिक सभ्यता की देन दी। मनु का यह समस्त कार्य बुद्धि के मंत्री के रूप में हुआ है, इसलिए इसे बुद्धि-प्रभावित मन की देन समझना होगा –

तुम्हें तृप्त कर सुख के साधन सकल बनाये
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये।[1]

इड़ा भी मनु पर अपना उपकार जतलाती हुई लगभग ऐसी ही बातें करती हैं, जिनसे यह बात प्रकट होती है कि वस्तुतः प्रकृति पर विजय प्राप्त कर यांत्रिक या औद्योगिक युग के श्री गणेश का श्रेय बुद्धि को ही है –

प्रकृति संग संघर्ष सिखाया तुमको मैंने
तुमको केन्द्र बनाकर अनहित किया न मैंने।[2]

श्रद्धा के साथ सम्पर्क में आने पर इड़ा अपने इन्ही कार्यों-नियमन, वर्ग-विभाजन और संघर्ष के बीज-वपन के प्रति ग्लानि भी प्रकट करती है–

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें,
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें,
सब पिये मत लालसा घूंट,
मेरा साहस अब गया छूट।[3]

इड़ा पर मनु का बलात्कार

इड़ा और मनु का सम्बन्ध कुछ उलझा हुआ है। आमुख मे प्रसाद ने ऋग्वेद में उल्लिखित इड़ा और मनु के पिता-पुत्री-सम्बन्ध की चर्चा की है।[4] ऋग्वेद के अनुसार

---

१ वही, पृ० २१२।
२ वही, पृ० २०६।
३ वही, पृ० २५२।
४ कामायनी, आमुख, पृ० ६।

इड़ा मनु की पालिता पुत्री थी, किन्तु प्रसाद ने उसे 'आत्मजा' कहा है।[1] डॉ० फतहसिंह ने इस अन्तर की चर्चा अपनी पुस्तक में की है।[2] पालिता पुत्री और आत्मजा का प्रश्न इतना उलझा हुआ नहीं है, जितना मनु द्वारा अपनी पुत्री इड़ा पर बलात्कार का प्रश्न। इड़ा के प्रतीकार्थ को दृष्टि में रखे बिना इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे पाना कठिन है।

इड़ा व्यवसायात्मिका (या भौतिक) बुद्धि है और इस रूप में वह मन का अंश है, अतएव अंश-अंशी-सम्बन्ध के नाते वह मन अर्थात् मनु की पुत्री है। साथ ही, विनिश्चय का कार्य बुद्धि द्वारा सम्पन्न होने के नाते वह सारस्वत प्रदेश-अन्तःकरण या आन्तरिक व्यक्तित्व-की रानी है। मन की प्रवृत्ति के अनुसार वह कार्य करती है—

मन जब निश्चित सा कर लेता
कोई मत है अपना,
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का
सतत निरखता सपना।[3]

अतएव मन मंत्री है, किन्तु कभी-कभी मन बुद्धि के साथ मनमानी करता है—वह बलात् उससे अपनी प्रवृत्ति की तुष्टि कराने का प्रयत्न करता है। जब विवेक रूपा बुद्धि मन की इस स्वेच्छाचारिता से पीड़ित होती है तब सारस्वत प्रदेश अर्थात् हमारे अन्तःकरण में विप्लव होने लगता है—मन और बुद्धि के संघर्ष के परिणाम स्वरूप व्यक्तित्व में बिखराव होने लगता है—व्यक्तित्व टूटने लगता है।[4] इस प्रकार एक रूप में जो इड़ा मनु की पुत्री है, वही दूसरे रूप में सारस्वत प्रदेश की रानी भी और इसलिए रानी पर मंत्री का बलात्कार पुत्री पर पिता का बलात्कार भी है, किन्तु वहां बलात्कार का प्रतीकार्थ ही ग्राह्य है—पुत्री (इड़ा) पर पिता मनु के बलात्कार का अभिप्राय केवल यही है कि मन कभी-कभी बुद्धि से बलात् अपना समर्थन कराना चाहता है—

किन्तु आज अपराध हमारा अलग खड़ा है
हां में हां न मिलाऊं तो अपराध बड़ा है।[5]

---

१. अरे आत्मजा प्रजा, पाप की परिभाषा बन शाप उठी।-वही, पृ० १६७।
२. कामायनी—सौन्दर्य, पृ० ६२।
३. कामायनी, पृ० १२०।
४. कामायनी, पृ० २०१।
५. पृ० २०६।

तब प्रश्न यह उठता है कि इस सर्ग में बुद्धि पर मन के अत्याचार को चित्रित करने के लिए प्रसाद ने यौन-बलात्कार की घटना क्यों चुनी; विशेषकर उस स्थिति में जब वे मनु को इड़ा का पिता मानते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने इस प्रकार दिया है— "कामायनी मे मनु और इड़ा के जिस अनैतिक आचरण का वर्णन किया गया है, उसका उल्लेख वेदो मे तो कही नही मिलता। ऋग्वेद के एतरेय ब्राह्मण में अवश्य एक कथा मिलती है। यहां लिखा है कि एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक आचरण किया। प्रजापति के इस आचरण को देखकर देवता लोग चिल्ला उठे और प्रजापति को दण्ड देने के लिए किसी व्यक्ति की खोज करने लगे। जब उन्हें कोई व्यक्ति दिखलाई न दिया, तब उन देवताओं ने मिलकर एक ऐसे रौद्र शरीर का निर्माण किया, जो 'भूतवन' कहलाया तथा उससे देवों ने प्रजापति को दण्ड देने के लिए कहा। तब उस रौद्र-मूर्ति ने पशुओं का आधिपत्य मांगा। देवो ने उसे पशुपति बना दिया। तब वह रौद्र-मूर्ति 'पशुमान' कहलाने लगी। इसके उपरांत उस रौद्र-मूर्ति ने प्रजापति के पाप प्रक्षालन के लिए उन पर आक्रमण किया और प्रजापति के शरीर को बेध डाला। [द्र० एतरेय ब्राह्मण ३।३।३३] प्रसाद जी ने इस ऐतिहासिक कथा में अपनी कल्पना से इतना और जोड़ दिया है कि देवों के साथ ही सारस्वत नगर की जनता भी मनु के विरुद्ध क्रांति मचाती है और उनका नेतृत्व असुर पुरोहित आकुलि और किलात करते हैं।"[1]

इस प्रकार डॉ० सक्सेना का आशय यह रहा है कि यहां मनु-इड़ा की कथा पर प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा का आरोप है। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि कि इस प्रसंग में कवि ने मनु को इड़ा के मुख से प्रजापति कहलवाया है—

प्रजा तुम्हारी, तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मैं[2]

और स्वयं मनु अपने सम्बन्ध में सोचते हैं—

आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?
कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूं क्या ?

---

१. कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ० ७६-७७। ३ कामायन पृ० १६६।
२. वही, पृ० २०७।

प्रसाद ने इस घटना को मनु-इडा की कथा मे स्थान देने के लिए मनु के लिए सायास 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग करवाया है। डॉ० फतहसिंह ने वैदिक साहित्य के आधार पर मनु के प्रजापतित्व की व्याख्या करते हुए भी स्वीकार किया है कि "मनु-इड़ा-कथा में यह घटना नहीं मिलती जब तक कि प्रसाद जी की भांति पिंडांड के प्रजापति मनु तथा वाक् के झगड़े को यहाँ न खींच लायें।"[1]

प्रश्न यह है कि मनु-इडा की कथा को प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा बना देने की क्या आवश्यकता थी? विशेषकर उस स्थिति में जबकि मनु के प्रजापति होने पर भी इड़ा कामायनी में वाक् की प्रतीक नही है.?

इसका यही उत्तर समझ में आता है कि संभवतः प्रसाद फ्रायड के इस सिद्धान्त से सुपरिचित थे कि हमने निषिद्ध संभोग की छूट अपने देवताओं को दे रखी है।[2] इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का उदाहरण भारतीय साहित्य में प्रजापति की कथा मे मिलता है। कामायनी मे उक्त सिद्धान्त को उदाहृत करने के लिए उन्होंने प्रजापति की कथा का समावेश वहां करना आवश्यक समझा और ऐसा करने के लिए उन्होंने मनु को ही प्रजापति बना दिया।

'सारस्वत प्रदेश' की रानी

भौतिकता, बुद्धि और बुद्धिवाद का इड़ा के व्यक्तित्व में जो समाहार दिखलाई देता है वह 'सारस्वत प्रदेश की रानी' के रूप में उसके व्यक्तित्व के विश्लेषण से भली भांति स्पष्ट हो जाता है। 'सारस्वत प्रदेश' का शाब्दिक अर्थ है सरस्वती का प्रदेश या क्षेत्र। सरस्वती प्रतिभा की देवी है जो बुद्धि का ही प्रकार विशेष है। इस प्रकार 'सारस्वत प्रदेश' का अभिप्राय हुआ बौद्धिक क्षेत्र। इस दृष्टि से 'सारस्वत प्रदेश' की रानी बुद्धि ही हो सकती है, किन्तु कवि ने सारस्वत प्रदेश का जो वर्णन किया है, उससे उसका प्रतीकार्थ बौद्धिक क्षेत्र मात्र नहीं रह जाता। कवि ने उसे भौतिक हलचल से आंदोलित कहा है—

स्वागत ! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल से चंचल हो उठा देश ही था मेरा[3]

मनु के आगमन के उपरान्त यह नगर पुनः बसता है, किन्तु तब भी भौतिकता समृद्धि से युक्त हो दिखलाई देता है। उसमें बुद्धि के प्रकाश से प्रतिफलित वैज्ञानिक अभ्युदय और औद्योगिक समृद्धि के साथ विलास की अभिवृद्धि के दर्शन होते हैं। मनुष्यता का वर्गों में विभाजन भी इस नयी सभ्यता का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। कामायनी मे भौतिक प्रगति के अंगीभूत उपर्युक्त विभिन्न तत्वों का सारस्वत प्रदेश में स्पष्ट निर्देश किया गया है—

---

१ कामायनी सौन्दर्य, पृ० ६६।
२ मनोविश्लेषण।
३ कामायनी, पृ० १८१।

वैज्ञानिक प्रगति—

देशकाल का लाघव करते वे प्राणी चंचल-से हैं,
सुख-साधन एकत्र कर रहे जो उनके संबल में हैं,
बढ़े ज्ञान-व्यवसाय, परिश्रम-बल की विस्तृत छाया में,
नर-प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा-तल में हैं।[1]

औद्योगिक समृद्धि—

उधर धातु गलते, बनते हैं आभूषण और वस्त्र नये[2]

× × ×

घन के आघातों से होती जो प्रचंड ध्वनि रोष भरी,

× × ×

अपने वर्ग बनाकर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी[3]

विलास की अभिवृद्धि—

पुष्पावलियाँ चुनती हैं वन कुसुमों की अध-विकच कली
गंधपूर्ण था लोध्र कुसुम-रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।[4]

× × ×

तो रमणी के मधुर कंठ से हृदय मूर्च्छना उधर ढरी।[5]

इससे स्पष्ट है कि सारस्वत प्रदेश भौतिकता से अनुप्राणित आधुनिक विश्व का प्रतीक है। जिसकी मूलभूत विशेषता है बुद्धिवाद। भौतिकता का अन्तर्भाव इस बुद्धिवाद के अन्तर्गत हो जाता है। इसलिए उसकी शासिका इडा को भौतिक बुद्धि मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।

महाभारत का रूपक

महाभारत के शुकानु प्रश्न में भी इसी प्रकार के एक रूपक का उल्लेख मिलता है। इस रूपक के द्वारा महाभारतकार का तात्पर्य भी लगभग वही प्रतीत होता है जो सारस्वत प्रदेश में मनु के इडा पर बलात्कार और विप्लव से कामायनीकार का रहा

१ कामायनी, पृ० १६४।
२ वही, पृ० १६३।
३ वही, पृ० १६३
४ वही, पृ० १६३
५ वही, पृ० १६३।

है—"शरीर एक नगर है। उसकी स्वामिनी है बुद्धि। मन इस स्वामिनी का अर्थ-सचिव ... न्द्रिय नागरिक जन हैं। जिस बात को बुद्धि का अधिष्ठान है वह नाश के पथ पर नहीं जाती। जहां मन बुद्धि से अलग होकर अपना श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करता है वहां नाश होता है, सब शून्य होकर रज से, रजो गुण से [शोक से] भर जाता है।"[1]

शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्र बुद्धे शरीरस्थंऽमनो नामार्थचिन्तकम् ।
इन्द्रियाणि जनाः पौरा :—।

यदर्थे बुद्धिरध्यास्ते न सोऽर्थः परिपीदति ॥
यदर्थे पृथगन्यास्ते मनस्तत् परिपीदति ॥
पृथक्भूतं यदा बुद्धया मनोभवति केवलम्
तत्रैनं विपृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते ।[2]

—अध्याय २४६, ६-१४

कामायनी में भी इस रूपक के समान मन द्वारा बुद्धि की अवहेलना और बलात् उससे अपना समर्थन कराने के प्रयत्न से उत्पन्न संकट की ओर संकेत किया गया है। यहां बुद्धि की अवहेलना से जिस विनाश का उल्लेख है, कामायनी में उसे मूर्त रूप दिया गया है।

नया मोड़

संघर्ष के उपरांत श्रद्धा के साथ सम्पर्क होने पर इड़ा की भूमिका में एक परिवर्तन दिखलाई देता है। श्रद्धा अपना पुत्र मानव इड़ा को सौंप देती है और श्रद्धा और मनु के कैलाश शिखर पर चले जाने पर वह कुमार और सारी प्रजा को वहीं ले पहुंचती है और इस प्रकार वह श्रद्धा का अनुगमन करती हुई धर्म-प्रतिनिधि वृषभ के साथ सारी प्रजा को लेकर आनंद-लोक तक पहुंच जाती है—

चलता था धीरे-धीरे,
वह एक यात्रियों का दल
सरिता के रम्य पुलिन में
गिरि-पथ से ले निज संबल।
था सोमलता से आवृत
वृष धवल, धर्म का प्रतिनिधि,

---

१. भारतीय मनोविज्ञान में वि० मि० बेडेकर का 'महाभारत में अन्तःकरण का व्यापार और स्थान' शीर्षक निबंध, पृ० २६। [सं० श्री नारायण शास्त्री द्राविड़]।

२. वही, पृ० ३२ [उद्धरण], टिप्पणी, सं० २०।

घंटा बजता तालों में
उसकी थी मंथर गतिविधि।
वृष रज्जु वाम कर में था,
दक्षिण त्रिशूल से शोभित,
मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित।[1]

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) श्रद्धा के द्वारा मन का उन्नयन होने पर बुद्धि का उन्नयन अवश्यम्भावी है और बुद्धि का उन्नयन होने पर समस्त प्रजा अर्थात् चेतना के सभी घटक तत्वों का उन्नयन स्वतः हो जाता है। इस प्रकार श्रद्धा के द्वारा मन का उन्नयन हुआ नहीं कि समस्त व्यक्तित्व का उन्नयन [मानव और प्रजा का उन्नयन] मन की अनुगामिनी बुद्धि के उन्नयन के साथ सहज ही हो जाता है।

(२) मनुष्य (मानव) का भविष्य बुद्धि के ही हाथों में निहित है। श्रद्धा-संजात मानव अर्थात् श्रद्धा-संयुक्त मानव का भविष्य बुद्धिवादी युग में ही निहित है। यह बात कामयानी की उस पंक्ति से भी व्यक्त होती है, जिसमें मनु इड़ा से संसार के भविष्य के द्वार खोलने को कहते हैं—

भव के भविष्य के द्वार खोल[2]

वस्तुतः इड़ा का परवर्ती रूप और उत्तरवर्ती रूप बुद्धि के दो रूप हैं। एक उसका भौतिक रूप है और दूसरा आध्यात्मिक। भारतीय दर्शन ग्रंथों में भी बुद्धि के दो रूपों का उल्लेख मिलता है। ये दो रूप है (१) तामस और (२) सात्विक। "बुद्धि का सात्विक रूप धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य इनमें प्रकट होता है और तामस रूप इनके विपरीत धर्मी अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य में व्यक्त होता है।[3] कामायनी की इड़ा का पूर्ववर्ती रूप बुद्धि के उपर्युक्त तामस रूप से और उत्तरवर्ती सात्विक रूप से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

यह कहना उचित नहीं होगा कि प्रसाद ने इड़ा या बुद्धि को हेय ठहराया है। मानव को इड़ा के हाथों सौंप कर या उसे 'भव के भविष्य का द्वार' खोलने वाली कहकर और अन्त में आनन्द की ओर अभियान में उसका नेतृत्व दिखलाकर कवि ने उसे प्रचुर महत्व दिया है।

---

१. कामायनी, पृ० २६०।
२. वही, पृ० १८४।
३. भारतीय मनोविज्ञान; (सं० श्री नारायण द्राविड़ शास्त्री) पृ० २२।

देवासुर-संग्राम

वस्तुतः भारतीय धर्म-साधना में बुद्धि की भूमिका कभी भी अल्प महत्व की नहीं रही। प्रसाद ने 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा है कि भारतीय आर्यों में दो प्रकार की धर्म-साधना प्रचलित थी। एक ओर इन्द्र को प्रामुख्य देने वाली आत्मवाद वाली विचारधारा थी, जिसके केन्द्र में काम पर आधारित आनन्दवाद था, दूसरी ओर वरुण को प्रधान मानकर चलने वाली नियम-प्रधान विचार धारा थी जिसका आधार बौद्धिक था—"इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वर-वाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेक पक्ष के आदर्श थे। महावीर में 'इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचारधारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को इस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की प्रधान धारामें, जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नहीं रहा। उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रखा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की।[1] (का०क० ५०) प्रसाद ने यह बात भी स्पष्ट रूप से कही है कि "इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचार-धारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराज पद पर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इन्द्र की जैसी चर्चा हुई है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग है, वह उनके आनन्द के अनुकूल ही है।"[2] संभवतः इसी बात को दृष्टि में रखते हुए प्रसाद ने मनु के मुख से कहलवाया है—

भोले थे, हां तिरते केवल
हम सब विलासिता के मद में।[3]
× × ×
वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ?
स्वप्न रहा था छलना थी।[4]
× × ×
कोलाहल में मुखरित होता
देवजाति का सुख-विश्वास।[5]
× × ×

---

१ जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५०
२ वही, पृ० ५०।
३ वही, पृ० १७।
४ वही पृ० १८
५ कामायनी, पृ० १८।

सुख केवल सुख का वह संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।[1]

इसकी पुष्टि उन्होंने काम के मुख से भी करवाई है—

देवों की सृष्टि विलीन हुई
अनुशीलन में अनुदिन मेरे,
मेरा अतिचार न बन्द हुआ
उन्मत्त रहा सबको घेरे।
मेरी उपासना करते वे
मेरा संकेत विधान बना,
विस्तृत जो मोह रहा मेरा
वह देव विलास-वितान तना।
मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था,
हँसता था और हंसाता था,
उनका मैं कृतिमय जीवन था।[2]

इससे प्रसाद की देव जाति-विषयक कल्पना स्पष्ट हो जाती है। प्रसाद के मतानुसार विलास-प्रधान आर्य-सभ्यता ही देव-सभ्यता थी जिसने विवेक-प्रधान आर्य बहिष्कृत थे। ये लोग व्रात्य कहलाए और जब भारतीय आर्यों में आत्मवाद की प्रबलता हुई तब व्रात्यों के प्रतीक वरुण की प्रतिष्ठा मुख्य रूप से असीरिया के असुरों में हुई— "वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना में गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप में असीरिया आदि अन्य देशों में हुई—असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए।"[3] इस प्रकार असुर-जाति विवेकवादी थी और फलतः दुःखवादी भी। "सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक (तर्क) ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया—दुःखवाद जिस मनन-शैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर, तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही गई।"[4]

१ वही, पृ० १८।
२ वही, पृ० ८१।
३ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० २०।
४ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५१।

उपर्युक्त उद्धरण से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बिलास-प्रधान मार्य जाति से, जो कालान्तर मे देवजाति कही जाने लगी थी, बहिष्कृत विवेकवादी मार्य जिनके उपास्य वरुण थे, जिनकी प्रतिष्ठा मुख्य रूप से प्रसीरिया में हुई असुर कहलाए। प्रतएव असुर से प्रसाद का मभिप्राय मार्यों से ही प्रतीत होता है क्योंकि वे विवेक के प्रतीक वरुण के उपासक थे जिनकी प्रतिष्ठा मुख्य रूप से प्रसीरिया में प्रसुर के रूप में हुई।

प्रतएव कामायनी के इड़ा सर्ग में, जहां काम के निर्दिष्ट मार्ग श्रद्धा के प्रवलम्बन को छोड़ कर मनु बुद्धि की मोर उन्मुख होते हैं, प्रसाद ने उक्त दोनों प्रकार के जीवन-दर्शन की टकराहट की चर्चा की है। काम देवजाति में प्रतिष्ठित रहा था—कामायनी उसीकी पुत्री थी। मनु इड़ा सर्ग में देवजाति में प्रतिष्ठित काम की पुत्री की अवहेलना कर जब बुद्धि (इड़ा) का आश्रय लेते हैं तब वे समाजशास्त्रीय दृष्टि से विलास-प्रधान देव जाति के संस्कारों को त्याग कर असुरों (मार्यों) के संस्कारों को ही ग्रहण करते है। इसीलिए इड़ा सर्ग में देवासुर संग्राम की चर्चा है।

कामायनी में देवासुर संग्राम का जिस रूप में उल्लेख है, उससे इस बात की पुष्टि होती है कि प्रसाद की दृष्टि में यह संघर्ष दो प्रकार की जीवन दृष्टियों से ही उद्भूत था। "जीवन का लेकर नवविचार" यह संघर्ष प्रारम्भ हुआ था अर्थात् इसका कारण एक नये प्रकार के जीवन-दर्शन से हुआ था। देवजाति आत्मवादी और आत्म-विश्वास से युक्त तथा अपनी अहंता से पूर्ण थी। वह अपने को सतत आराध्य मानती थी और "आत्ममंगल-उपासना" में संलग्न होने के साथ वह जीवन के आनन्द पक्ष को महत्व देती थी। दूसरी ओर असुर (बुद्धिवादी आर्य जिनके उपास्य वरुण की प्रतिष्ठा असीरिया में असुर के रूप में हुई थी) नियमन द्वारा भौतिक विकास को प्रमुखता देती थी। इसके लिये दैहिक सुख ही मुख्य था। मनु के जीवन में प्रदर्शित उक्त दोनों जातियों के संस्कारों का संघर्ष इड़ा सर्ग में पहुँच कर उदित होता है—

जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वन्द्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार।
उस ओर आत्मविश्वास निरत सुर वर्ग कर रहा था पुकार,
मैं स्वयं सतत आराध्य आत्ममंगल उपासना में विभोर,
उल्लासशील में शक्तिकेन्द्र, किसकी खोजूं फिर शरण और
आनंद उच्छलित शक्ति-स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा

प्राणों के सुख साधन में ही, संलग्न असुर करते सुधार–
नियमों में बंधते दुर्निवार।[1]

\+ + +

था एक पूजता देह दीन,
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण।
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वासहीन।
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें, क्यों हो न युद्ध ?
उनका संघर्ष चला अशान्त वे भाव रहे अब तक विरुद्ध।
मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातन्त्र्यमयी उच्छृंखलता,
हो प्रलयभीत तनरक्षा में पूजन करने की व्याकुलता।
वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन–
सचमुच हूं मैं श्रद्धाविहीन।[2]

निष्कर्ष

अब यह बात कही जा सकती है कि कामायनी की इड़ा नियमन करने वाली बुद्धि है। उसका प्रारंभिक रूप भौतिकता से सम्पृक्त है, किन्तु श्रद्धा के साथ सम्पर्क में आने पर उसका उन्नयन हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप समस्त प्रजा चेतना के विभिन्न घटक तत्व आनन्द लोक तक पहुंच जाते हैं। यह बुद्धिवाद आत्मवादी आर्यों से भिन्न विवेक के उपासक आर्यों का मार्ग था। विवेक मार्ग के प्रतिनिधि वरुण असीरिया में असुर रूप में प्रतिष्ठित हुए और भिन्न (आत्मवादी) जीवन-दर्शन के अनुयायी देवों से उनका संघर्ष भी हुआ। इस संघर्ष का मूल कारण परस्पर विरोधी जीवन-दर्शन था। इस प्रकार प्रसाद यह मानते हैं कि कामायनी के पूर्वार्द्ध के उपरान्त मनु ने इड़ा के आश्रय में बुद्धिवाद का जो मार्ग ग्रहण किया वह प्रचुरांश में पुराना था और मूलतः आर्य-मार्ग ही था।

इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि प्रसाद ने विवेक या बुद्धि को वरुण, जो असुरों में प्रतिष्ठित हुए, से सम्बन्धित मानते हुए भी उसे आसुरी वृत्ति नहीं माना है। महाकवि मिल्टन के पैराडाइज लास्ट से उनका दृष्टिकोण यहाँ इस रूप में नितान्त भिन्न है। "पैराडाइज लास्ट का आधार बाइबिल है और सेन्द्रिय मन ही बाइबिल के रूपक में बुद्धि-वृक्ष है, जिसके फल खाकर आदम (आदम) का पतन अवश्यंभावी है................वैदिक साहित्य में असुरत्व को प्रायः 'अहि' (सर्प) से व्यक्त किया गया है, जो अवेस्ता में 'अज्हि' तथा बाइबिल में बुद्धि-वृक्ष के मूल में

१ कामायनी पृ० १७३।
२ वही, पृ० १७३

लिपटा हुआ गर्व होकर आदम (आत्मन) के पतन का कारण बनता है।[1] इस प्रकार बाइबिल के अनुसार बुद्धि वृक्ष मूल में असुरत्व से आवृत है अर्थात् बुद्धि एक आसुरी वृत्ति है जो आदम (आत्मन्) के पतन का कारण बनती है।''[1]

इसके विपरीत 'प्रसाद' ने उसे श्रद्धा का विकल्प माना है। श्रद्धा के अभाव में वही मनु के जीवन का अवलम्ब बनती है। इसलिए श्रद्धा उसे जीवन के लिए घातक नहीं मानती, प्रत्युत् श्रद्धा के अभाव में उसने मनु को जो अवलम्बन दिया उसके प्रति आभार व्यक्त कर उसकी महत्ता की घोषणा करती है—

मुझ से बिछुड़े को अवलम्बन
देकर तुमने रक्खा जीवन,
तुम आशामयी ! चिर आकर्षण,
तुम मादकता की अवनत घन,[2]

इसलिए कामायनी में बुद्धि के स्वरूप को बाइबिल के प्रभाव से मुक्त रख कर देखना चाहिए, अन्यथा उसके सम्बन्ध में आसुरी वृत्ति का भ्रम हो सकता है। यदि असुरों (आर्यों--वरुण) से सम्बन्धित होने के कारण उसे आसुरी कहना चाहें, तो भी वह बाइबिल वाले अर्थ में (पतन के कारण रूप में) आसुरी नहीं है।

---

१ डा० फतहसिंह, कामायनी सौन्दर्य पृ० २६२
२ कामायनी, पृ० २४६।

अध्याय ६

कर्म-यज्ञ और किलात-आकुलि की क्रूरता

प्रसाद का कर्म-विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है। प्रायः इड़ा के साथ प्रसाद ने कर्म का उल्लेख किया है। इड़ा का चित्र उपस्थित करते हुए प्रसाद ने उसके हाथ में 'वसुधा-रस के सार से परिपूर्ण कर्म-कलश' भी दिखलाया है।[1] इसके साथ ही मनु इड़ा से मिलने के उपरान्त कर्म करने का संकल्प भी करते हैं।[2] इन्हीं सब बातों को लेकर शुक्लजी जैसे समीक्षक भी यह कह गये हैं कि जब प्रसाद कर्म को बुद्धि की परिणति मानते हैं तब ज्ञान लोक से पृथक् कर्म-लोक की कल्पना की क्या आवश्यकता थी ?[3]

वस्तुतः कामायनी के प्रतीकों को उनकी समग्रता में न देखने के परिणाम स्वरूप ही ऐसी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रसाद ने कर्म को बुद्धि से सम्बद्ध बतलाया है—यह बात सही है, किन्तु बुद्धि से ही सम्बद्ध बतलाया है—यह बात एकदम गलत है। कर्म का सम्बन्ध इड़ा अर्थात् बुद्धि —विशेषकर भौतिक बुद्धि से है। यह बात तो स्पष्टतः कामायनीकार ने कही है, किन्तु उसे इतनी दूर तक खींचकर लेजाना अनुचित है कि बुद्धि और कर्मका पार्थक्य ही नहीं माना जाए। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा है—"मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियाँ परस्पर अनुस्यूत और गुंफित हैं"[4] और इसी नाते बुद्धि भी कर्म की विभिन्न प्रेरणाओं में से एक है, एक मात्र नहीं।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद ने 'कर्म' सर्ग की योजना 'इड़ा' सर्ग से काफी पहले की है। इड़ा से परिचय होने से पहले ही कर्म प्रारम्भ हो जाता है। तब इड़ा को ही कर्म की प्रेरणा मानना कहाँ तक उचित है ? यदि इड़ा के साथ परिचय से पूर्व—अर्थात् बुद्धि के उदय से पहले ही—प्रसाद कर्म के अस्तित्व की कल्पना करते हैं तो कर्म और बुद्धि की अभिन्नता का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ? अतएव शुक्ल जी की उक्त आशंका निरर्थक है।

---

१ था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस-सार लिये। कामायनी पृ० १८०

२ मेरे विकल्प संकल्प बनें जीवन हो कर्मों की पुकार।—वही, पृ० १८४

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास।

४ कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ पृ० ५२

कर्म की प्रेरणाएँ

प्रसाद ने कामायनी में मनु को कर्म की प्रेरणा बहुत पहले ही दिलवाई है। सर्व प्रथम श्रद्धा ही उन्हें कर्म की ओर प्रेरित करती हुई कहती है—

एक तुम, यह विस्तृत भू-खण्ड
प्रकृति-वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।[1]

\+ + +

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।[2]

\+ + +

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय![3]

तदुपरान्त काम भी मनु को कर्म की ओर प्रेरित करता है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है;
परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

वे कितने ऐसे होते हैं
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध-सूत्र से बुनते हैं।

---

१ कामायनी, पृ० ६६
२ वही, पृ० ६८
३ वही, पृ० ६६

ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अम्बर में—
वह क्या है ? क्या तुम देख रहे
वर्णों के मेघाडम्बर में ?
अन्तर है दिन औ रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है
माया के नीले अंचल में
आलोक बिन्दु सा झरता है।[१]

कर्म सर्ग के प्रारम्भ में प्रसाद ने कर्म-प्रेरणा के रूप में श्रद्धा और काम के उक्त कथनों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

श्रद्धा के उत्साह वचन
फिर काम प्रेरणा मिलके
भ्रांत अर्थ बन आगे आये
बने ताड़ थे तिल के।[२]

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि कामायनी में कर्म-प्रेरणा के रूप में इड़ा का उदय होने से काफी पहले ही श्रद्धा और काम की सत्ता है। यह बात दूसरी है कि श्रद्धा और काम जिस प्रकार के कर्म को प्रेरणा देते हैं, मनु के कर्म उससे भिन्न कोटि के हैं।

कर्म का द्विधा उल्लेख : दो भिन्न प्रयोजन

'कर्म' का उपस्थापन कामायनी में दो बार किया गया है—(१) कर्म सर्ग में और (२) इच्छा, क्रिया और ज्ञान के त्रिकोण का विश्लेषण करते समय 'कर्म-लोक' के प्रसंग में। दोनों ही बार 'कर्म' कवि की सहानुभूति से वंचित रहा है और ऊपरी दृष्टि से देखने पर दोनों में पुनरावृत्ति भी दिखलाई दे सकती है, फिर भी विचार करने से पता चलता है कि कर्म के दो बार उपस्थापन के पीछे कवि के दो भिन्न प्रयोजन रहे हैं। कर्म-सर्ग के कर्म का सम्बन्ध बहुत कुछ मनुष्यों के जीवन की पारस्परिकता के मध्य कर्म के स्वरूप, प्रभाव और परिणाम से है जबकि त्रिकोण अंकन में व्यक्तित्व के भीतर ही उसके घटक-रूप में कर्म की भूमिका का चित्रण कवि का प्रयोजन रहा है। इसलिए त्रिकोण के प्रसंग में कर्म का प्रभाव (effect) कर्त्ता के सम्बन्ध से दिखलाया गया है—

---

१ वही, पृ० ८२
२ कामायनी, पृ० १२०।

श्रममय, कोलाहल-पीड़नमय,
विकल प्रवर्तन महायंत्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है,
प्राण दास है क्रियातंत्र का
भावराज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुःख में बदल रहे हैं
हिंसा, गर्वोन्नत, हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं।[1]

+ + +

करते हैं, सन्तोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति-विवश, ये सब कंपित से।[2]

+ + + +

यहां सतत संघर्ष, विफलता,
कोलाहल का यहां राज है;
अन्धकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।[3]

इस प्रसंग में कर्म-प्रेरणा का उल्लेख भी कर्म के सम्बन्ध से ही हुआ है और इसलिए उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक है—व्यक्तित्व के घटक सम्बंध से ही उस पर यहां विचार किया गया है—

सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा।[4]

+ + × +

आकांक्षा की तीव्र पिपासा
ममता की यह निर्मम गति है।[5]

+ + +

---

१ वही, पृ० २७८।
२ वही, पृ० २७६।
३ वही, पृ० २७६।
४ कामायनी, पृ० २७८।
५ वही, पृ० २७६

बड़ी लालसा यहां सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती ;
अंध-प्रेरणा से परिचालित
कर्त्ता में करते निज गिनती । [1]

कर्म-यज्ञ : कर्म की सामाजिक परिणति

इसके विपरीत 'कर्म' सर्ग में कर्म को 'कर्म-यज्ञ' का रूप दिया गया है[2] जिससे उसका सामाजिक प्रतिफलन द्योतित होता है । उसकी प्रेरणा के रूप में उत्सव-लालसा की चर्चा की गई है जो उसकी सामाजिक परिणति की ओर संकेत करती है—

साधारण से कुछ अतिरंजित
गति में मधुर त्वरा-सी,
उत्सव-लीला, निर्जनता की
जिससे कटे उदासी ।[3]

इसके साथ ही यहां 'कर्म' का उल्लेख समष्टिगत रूप से हुआ है । कर्म-समुच्चय का उपस्थापन कवि ने यहां किया है, जो कर्म की वैयक्तिकता से भिन्न उसके सार्वजनिक रूप की ओर संकेत करती है—

परंपरागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियां ;
जीवन-साधन की उलझी हैं
जिसमें सुख की घड़ियां;[4]

इस कर्म-यज्ञ का सम्बन्ध मित्र-वरुण से बताया गया है।[5] मित्र-वरुण सृष्टि के नियमन कर्ता हैं । अतएव इस यज्ञ का सम्बन्ध सृष्टि-नियमन से है । इस प्रकार कर्म-सर्ग में कर्म का सृष्टि नियमन पक्ष प्रस्तुत किया गया है ।

---

१ कामायनी, पृ० २८०

२ कर्म-यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा – वही पृ० १२३

३ वही, पृ० १२५ ।

४ वही, पृ० १२५ ।

५ जिनके लिए यज्ञ होगा हम उनके भेजे आये ।
+ + +
मित्र वरुण, जिनकी छाया है यह आलोक अंधेरा,
+ + +
वे ही पथ दर्शक हो : सब विधि पूरी होगी मेरी ।
वही, पृ० १२४ ।

पशु-बलि का प्रतिकार्थ

इस यज्ञ में पशु की बलि दी जाती है। पशु अन्य प्राणियों का प्रतीक है। "पाशों से आबद्ध जीव को प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'पशु' भी कहा गया है।"[1] इसलिए कर्मयज्ञ में पशुबलि का अभिप्राय है स्वार्थ साधन में अन्य प्राणियों की हिंसा—उनका पराभव—उनके हितों का व्याघात। पशुबलि के प्रति श्रद्धा की प्रतिक्रिया से भी उसका यही प्रतीकार्थ सिद्ध होता है। वह इस बलि को 'प्राणी की प्राणी के प्रति निर्ममता' कहती है और इसे 'एक प्राणी के प्रति दूसरे के दुर्व्यवहार' की संज्ञा देती है—

यह विराग-सम्बन्ध हृदय का
कैसी यह मानवता !
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता !

जीवन का संतोष अन्य का
रोदन बन हंसता क्यों ?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर-सा कसता क्यों ?

दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा ?
कौन उपाय ! गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा ?[2]

इस प्रकार कर्म यज्ञ के अन्तर्गत कर्म का जो रूप उपस्थित किया गया है वह पारस्परिकता-सापेक्ष है—वह कर्म के सामाजिक परिणाम और प्रभाव को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि मे वह त्रिपुर के कर्म लोक से भिन्न है। इस लिए दोनों में पुनरावृत्ति मानना समीचीन नहीं होगा।

फिर भी यह मानना होगा कि उक्त दोनों स्थानों पर कर्म का असत्पक्ष प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कर्म का वह रूप दिखलाई देता है जिसमें महत्वाकांक्षाजन्य तिकड़म, उखाड़-पछाड़ और यान्त्रिक गतिशीलता का समाहार है।

---

१ ड. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना कामायनी में काव्य संस्कृति र दर्शन पृ० ४२६

२ कामायनी, पृ० १३४।

'सृष्टि-यज्ञ'

कर्म के इस ध्वंसात्मक (हिंसक और उखाड़-पछाड़वादी) पक्ष के द्योतक कर्मयज्ञ के विपरीत प्रसाद ने सृष्टि यज्ञ की कल्पना की है। यह यज्ञ रचनामूलक है और सृष्टि की सेवा (पशुबलि के विपरीत) उसका मुख्य अंग है—

रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति-सेवा - भाग हमारा
उसे विकसने को है![1]

असुर पुरोहित : किलात-आकुलि का प्रतीकार्थ

कर्म-यज्ञ की प्रेरणा तो मनु के मन में ही उदित होती है, किन्तु उसे सम्पन्न कराते है किलात-आकुलि नामक असुर पुरोहित। प्रसाद ने इनके असुर होने का स्पष्ट उल्लेख किया है—

असुर-पुरोहित उस विप्लव से
बचकर भटक रहे थे।
वे किलात-आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।[2]

इन असुरों को प्रकृत्या हिंसक बतलाया गया है। मनु-श्रद्धा के पशु को देखकर उनकी आमिष लोलुप रसना चंचल हो जाती है—

देख-देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल-चंचल रहती,
उनकी आमिष-लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।[3]

सारस्वत-प्रदेश में विप्लव होने पर यही असुर पुरोहित, जो यहां मनु को कर्मयज्ञ सम्पन्न कराते हैं और पशु-बलि देते है, मनु के विरुद्ध विप्लवकारियों का नेतृत्व करते हैं।

यहीं समस्या उलझ जाती है। प्रायः असुरत्व और देवत्व का नैतिकतामूलक अर्थ बुराई और अच्छाई किया जाता है।[4] और इसी आधार पर किलात-आकुलि को

१ वही, पृ० १४३
२ कामायनी, पृ० १२१,
३ वही, पृ० १२१
४ डॉ० फतहसिंह की पुस्तक कामायनी सौन्दर्य में देवासुर-संग्राम प्रकरण

आसुरी (बुरी-अनैतिक) वृत्तियां कहकर संतोष कर लिया जाता है।[1] इसी आधार पर डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियां पहले मन को पाप कर्म में प्रविष्ट करती हैं, फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियां उलटे उसके कष्ट में योग देती हैं ?"[2] कैसे ?—इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र मौन हैं।

किलात-आकुलि का प्रतीकार्थ समझने के लिए तीन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—(१) किलात-आकुलि का मनु से साक्षात्कार दो भिन्न समयों पर लम्बे व्यवधान के उपरांत होता है, (२) प्रसाद की दृष्टि में असुर शब्द का अर्थ नैतिकतामूलक न होकर समाजशास्त्रीय है, और (३) उन्हें यहां युग्म रूप में उपस्थित किया गया है।

किलात-आकुलि की मनु से प्रथम भेंट तब होती है जब वे मनु कर्म-यज्ञ करना चाहते हैं। उस समय वे उस यज्ञ को सम्पन्न कराते हैं जो मित्र-वरुण के लिए किया जाता है और जिसमें पशु की बलि दी जाती है। मित्र-वरुण नियमनकर्ता हैं और वरुण का सम्बन्ध विवेक या बुद्धि से है।[3] वरुण देवता हैं फिर भी उनकी प्रतिष्ठा मुख्य रूप से असीरिया के असुरों में हुई है।[4] अतएव असुर पुरोहित से उनका सम्बन्ध ठीक ही है। इस यज्ञ से श्रद्धा विमुख है। इसलिए श्रद्धाविहीन कर्म-यज्ञ में किलात आकुलि के पौरोहित्य का अर्थ है—हार्दिकता शून्य कर्म की प्रेरणा जिसमें चालाकी, प्रवंचना वंचपन, धूर्तता (ये सब बुद्धि-प्रसूत विशेषताएं हैं । जो प्रायः दूसरों को ठगती हैं—दूसरों के हितों में व्याघात पहुंचाती हैं) का प्राधान्य है।

किलात-आकुलि की मनु से दूसरी भेंट तब होती है जब उनकी प्रजा उनके विरुद्ध विद्रोह करती है। तब वे ही उस विद्रोह का नेतृत्व करते हैं इस विप्लव को मरण पर्व कहा गया है—

मरण-पर्व था, नेता आकुलि औ किलात थे।[5]

इसका अभिप्राय यह है कि जब मन के विरुद्ध चेतना के घटक तत्व संघर्ष करते हैं तब बुद्धि प्रसूत विवेक मारक का रूप धारण कर लेता है। यहां वे इड़ा की प्रजा के नेता के नाते से बुद्धि से सम्बन्धित हैं। जब मन बुद्धि के विरुद्ध आचरण करने लगता

---

१ (क) डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, कामायनी में काव्य-संस्कृति और दर्शन, पृ० १७२–७३

(ख) डॉ० नगेन्द्र, कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, पृ० ४५

२ वही, पृ० ४५

३ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४६

४ वही, पृ० ५०

५ कामायनी, पृ० २१३

'सृष्टि-यज्ञ'

कर्म के इस ध्वंसात्मक (हिंसक और उखाड़-पछाड़वादी) पक्ष के द्योतक कर्मयज्ञ के विपरीत प्रसाद ने सृष्टि यज्ञ की कल्पना की है। यह यज्ञ रचनामूलक है और सृष्टि की सेवा (पशुबलि के विपरीत) उसका मुख्य अंग है—

रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति-सेवा - भाग हमारा
उसे विकसने को है ![1]

असुर पुरोहित : किलात-आकुलि का प्रतीकार्थ

कर्म-यज्ञ की प्रेरणा तो मनु के मन में ही उदित होती है, किन्तु उसे सम्पन्न कराते हैं किलात-आकुलि नामक असुर पुरोहित। प्रसाद ने इनके असुर होने का स्पष्ट उल्लेख किया है—

असुर-पुरोहित उस विप्लव से
बचकर भटक रहे थे।
वे किलात-आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे ।[2]

इन असुरों को प्रकृत्या हिंसक बतलाया गया है। मनु-श्रद्धा के पशु को देखकर उनकी आमिष लोलुप रसना चंचल हो जाती है—

देख-देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल-चंचल रहती,
उनकी आमिष-लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती ।[3]

सारस्वत-प्रदेश में विप्लव होने पर यही असुर पुरोहित, जो यहां मनु को कर्मयज्ञ सम्पन्न कराते हैं और पशु-बलि देते हैं, मनु के विरुद्ध विप्लवकारियों का नेतृत्व करते हैं।

यहीं समस्या उलझ जाती है। प्राय: असुरत्व और देवत्व का नैतिकतामूलक अर्थ बुराई और अच्छाई किया जाता है.[4] और इसी आधार पर किलात-आकुलि को

---

१ वही. पृ० १४३

२ कामायनी, पृ० १२१,

३ वही, पृ० १२१

४ डॉ० फतहसिंह की पुस्तक कामायनी सौन्दर्य में देवासुर-संग्राम प्रकरण

आसुरी (बुरी-अनैतिक) वृत्तियां कहकर संतोष कर लिया जाता है।[1] इसी आधार पर डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियां पहले मन को पाप कर्म में प्रविष्ट करती हैं, फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियां उलटे उसके कष्ट में योग देती है ?"[2] कैसे ?—इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र मौन हैं।

किलात-आकुलि का प्रतीकार्थ समझने के लिए तीन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—(१) किलात-आकुलि का मनु से साक्षात्कार दो भिन्न समयों पर लम्बे व्यवधान के उपरांत होता है, (२) प्रसाद की दृष्टि से असुर शब्द का अर्थ नैतिकतामूलक न होकर समाजशास्त्रीय है, और (३) उन्हें यहां युग्म रूप में उपस्थित किया गया है।

किलात-आकुलि की मनु से प्रथम भेंट तब होती है जब ये मनु कर्म-यज्ञ करना चाहते हैं। उस समय वे उस यज्ञ को सम्पन्न कराते हैं जो मित्र-वरुण के लिए किया जाता है और जिसमें पशु की बलि दी जाती है। मित्र-वरुण नियमनकर्ता हैं और वरुण का सम्बन्ध विवेक या बुद्धि से है।[3] वरुण देवता है फिर भी उनकी प्रतिष्ठा मुख्य रूप से असीरिया के असुरों में हुई है।[4] अतएव असुर पुरोहित से उनका सम्बन्ध ठीक ही है। इस यज्ञ से श्रद्धा विमुख है। इसलिए श्रद्धाविहीन कर्म-यज्ञ में किलात आकुलि के पौरोहित्य का अर्थ है—हार्दिकता शून्य कर्म की प्रेरणा जिसमें चालाकी, प्रवंचना घटपन, धूर्तता (ये सब बुद्धि-प्रसूत विशेषताएं हैं । जो प्राय: दूसरों को ठगती हैं—दूसरों के हितों में व्याघात पहुंचाती है) का प्राधान्य है।

किलात-आकुलि की मनु से दूसरी भेंट तब होती है जब उनकी प्रजा उनके विरुद्ध विद्रोह करती है। तब वे ही उस विद्रोह का नेतृत्व करते हैं इस विप्लव को मरण पर्व कहा गया है—

मरण-पर्व था, नेता आकुलि औ' किलात थे।[5]

इसका अभिप्राय यह है कि जब मन के विरुद्ध चेतना के घटक तत्व संघर्ष करते हैं तब बुद्धि प्रसूत विवेक मारक का रूप धारण कर लेता है। यहां ये इड़ा की प्रजा के नेता के नाते से बुद्धि से सम्बन्धित हैं। जब मन बुद्धि के विरुद्ध आचरण करने लगता

१ (क) डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, कामायनी में काव्य-संस्कृति और दर्शन, पृ० १७२–७३

(ख) डॉ० नगेन्द्र, कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, पृ० ४५

२ वही, पृ० ४५

३ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४६

४ वही, पृ० ५०

५ कामायनी, पृ० २१३

है तब विवेक (उच्चाहं) मन का दमन करता है इसलिए फायड ने उसे मृत्यु मूलप्रवृति का आत्मोन्मुखी रूप कहा है।[1] "मरण-पर्व नेता" का संकेत भी मृत्यु मूलप्रवृत्ति की ओर प्रतीत होता है।

इसलिए किलात-आकुलि के प्रतीकार्थ को समझने के लिए मृत्यु मूलप्रवृति को ठीक से समझ लेना चाहिए। यह प्रवृत्ति दो रूपों में व्यक्त होती है। एक ओर अन्य लोगों या परिवेश के प्रति आक्रामक या घातक रूप में यह व्यक्त होती है तो दूसरी ओर यह विवेक या उच्चाहं के रूप में 'स्व' के प्रति ही घातक रूप धारण कर लेती है। इस वृत्ति का कार्य ध्वंसात्मक है।[2]

किलात-आकुलि भी ध्वंसात्मक हैं। पहले वे पशु (अन्य प्राणी) का वध करते हैं। इस प्रकार वहाँ उनकी ध्वंसात्मक या हिंसक प्रवृत्ति की वाह्य अभिव्यक्ति होती है। जब अनैतिक आचरण करने पर मनु के विरुद्ध विद्रोह होता है तब वे दमनकारी विवेक के रूप में मनु (मन) पर ही आघात करते हैं। प्रसाद ने दोनों ही रूपों में उन्हें बुद्धि प्रेरित माना है। इतर प्राणियों के प्रति हिंसा या ध्वंस में धूर्तता, प्रवंचना आदि प्रवृत्तियों के रूप में बुद्धि का योग रहता है और आत्महनन में दमनकारी विवेक के रूप में बुद्धि योग देती है।

इस प्रकार कामायनी में किलात-आकुलि मृत्यु-मूलप्रवृत्ति (Death Instinct) के द्विविध प्रकाशन का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी युग्मपरकता के मूल में संभवतः यही कारण है। वैसे आधार-ग्रंथों में उनका युग्म रूप मे उल्लेख भी कामायनी मे उनकी युग्मपरकता का कारण हो सकता है, किन्तु प्रसाद ने आधार-ग्रंथो से जो सामग्री ग्रहण की है उसमें कुछ संस्कार अपनी ओर से भी किया है। इसलिए वे चाहते तो यहां भी संस्कार कर सकते थे क्योंकि एक प्रतीकार्थ के लिए दो प्रतीकों की योजना उचित नहीं थी। इसलिए पहला कारण ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

---

1 *In general Freud held that the superego is motivated by the aggressive tendency turned inward against the ego.*
—R. S. woodworth, Contemporary Schools of Psychology, p. 190.

2 Turned *outward* it is *the urge to destroy*, injure, conquer. It is the hostility motive, the aggressive tendency, which certainly menifests itself abundently. Finding *something* outside to destroy it need not destroy the self. But when frustrated in an external aggression it is likely to turn back upon the self as a suicidal tendency. It...covers the milder forms of aggressiveness, whether directed toward the self or toward external objects. Self-punishment and self-condemnation are included, and so are jealousy among rivals and rebellion against authority.—R.S. Woodworth, Contemporary Schools of Psychology, p. 184

किलात-प्राकुलि के असुरत्व का जहां तक प्रश्न है उससे प्रसाद का आशय उस बुद्धि प्रधान व्रात्य-संस्कृति से है जिसके अधिष्ठाता वरुण की प्रतिष्ठा असीरिया में असुर रूप मे हुई। इसीलिए कामायनी में वे जो कर्म-यज्ञ सम्पन्न कराते हैं उसका विधान मित्र वरुण (बुद्धि के अधिष्ठाता) के लिए है। इस प्रकार किलात-आकुलि के असुरत्व का अभिप्राय आसुरी वृत्ति या अनैतिक वृत्ति या दुष्टता समझना ठीक नहीं है। इतर प्राणियों के प्रति वे क्रूर हैं, और विवेक-रूप में 'स्व' के प्रति भी वे कष्टकारक बन जाते हैं। इस प्रकार 'पीड़क' रूप में वे आसुरी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं, किन्तु विवेक को आसुरी वृत्ति कहने में बहुतों को संकोच होगा और चूंकि किलात-आकुलि में विवेक का समाहार भी है, इसलिए उन्हें आसुरी वृत्ति का वाचक मानने में आपत्ति है।

निष्कर्ष

मृत्यु मूलप्रवृत्ति का स्वरूप समझ लेने के उपरान्त किलात आकुलि का प्रतीकार्थ सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। तब उनके द्वारा पशु-बलि तथा मित्र-वरुण के लिए यज्ञ, उनका युग्म रूप और मनु के विरुद्ध इड़ा की जनता का उनके द्वारा नेतृत्व सहज ही समझा जा सकता है। उनके असुरत्व का अर्थ भी सुपर ईगो के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है।

अध्याय ७

कामायनी की केन्द्रीय समस्या :
संघर्ष के त्रिविध स्तर और समरसता

कामायनी का आरम्भ चिंता के साथ प्रलय की पृष्ठभूमि में हुआ है और उसका समापन इच्छा-क्रिया-ज्ञान के समन्वय की पृष्ठभूमि में आनन्द की उपलब्धि के साथ। इसका संकेत यह है कि भीषण ध्वंस को दृष्टिगत रखते हुए कवि जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा चाहता है। जीवन की विषमता, कटुता, भीषणता और विक्षोभ को वह पहिचानता है और जीवन के चरम मूल्य आनंद की उपलब्धि के विघातक तत्वों के रूप में उनको अंकित भी करता है, किन्तु इन सबका अतिक्रमण कर जीवन में आनंद की प्रतिष्ठा करना उसका लक्ष्य है। यही उसका गन्तव्य है। कामायनी की कथा में क्रमशः विभिन्न स्तरों पर इन व्यवधानों का निरूपण कर अन्त में आनन्द की प्रतिष्ठा की गई है।

कामायनी में मुख्यतया दो रूपों में आनंद के व्याघातक तत्वों का निर्देश किया गया है—(१) परिवेशगत और (२) व्यक्तिगत। परिवेशगत व्यवधान के भी दो पक्ष हैं—(१) अस्तित्व-रक्षण के लिए परिवेश की चुनौती और (२) परिवेश के साथ निर्वाह में व्यक्ति की अक्षमता। इस प्रकार कामायनी में संघर्ष के तीन स्तरों का क्रमिक उपस्थापन दिखाई देता है—

(१) अस्तित्व-रक्षण के लिए परिवेश की चुनौती,
(२) परिवेश के साथ निर्वाह में व्यक्ति की अक्षमता; और
(३) व्यक्ति का आंतरिक तनाव।

भीषण परिवेश में अस्तित्व-रक्षण की समस्या

कामायनी का आरम्भ प्रलय-प्रकरण के साथ होता है। समस्त भारतीय साहित्य में कदाचित् यह प्रथम काव्य है जिसका आरम्भ ध्वंस की पृष्ठभूमि में हुआ है। यहाँ प्रसाद ने अस्तित्वरक्षण की प्रबल प्रवृत्ति को भीषणतम परिवेश के मध्य व्यक्त किया है। चिन्ता सर्ग में उस भीषण परिवेश का चित्रण है जो एक व्यक्ति के नहीं, समस्त विश्व के अस्तित्व को चुनौती देता है। प्रसाद ने उसकी भीषणता को पूरी शक्ति के साथ मूर्त किया है। प्रलय के सर्वनाशी रूप का चित्रण करते हुए कवि ने उसके ध्वंस से व्याकुल प्राणियों के हाहाकार, भीषण रव, आकाश में प्रलय-पयोधरों की

भयंकर गड़गड़ाहट, झंझाके झटको, पंचभूत के भैरव मिश्रण, धँसती हुई धरा, ज्वालामुखियों के विस्फोट, निरंतर बढ़ते हुए जल-संघात और क्रमशः डूबती हुई पृथ्वी, मर्यादाहीन होकर उमड़ते हुए सागर और क्रंदन करते हुए करका-पात का जो दृश्य उपस्थित किया है[1] उससे आनंद जीवन में कहीं टिकता हुआ दिखलाई नहीं देता। जीवन ही वहां नहीं टिक पाता, तब आनंद का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए प्रसाद ने सर्वप्रथम जीवन की समस्या ही ली है—जीवन होगा तो आनंद होगा, जीवन नहीं तो आनंद कहां रहेगा?

इस महानाश की पृष्ठभूमि मे कवि ने बलवती जीवनैषणा का चित्रण किया है। मनु इस प्रलय-निशा में देवजाति के विगत विलासमय जीवन का स्मरण करके क्षुब्ध होते हैं। कवि ने यहाँ विलास का सजीव चित्रण किया है जो, आनंद से भिन्न, सुखवाद का विस्तृत चित्र उपस्थित करता है। विलास के रमणीय दृश्यों से युक्त होते हुए भी सुखवाद का यह चित्र विक्षोभ की भावना से समावृत है, उसमें जीवन के सुख के प्रति वितृष्णा अन्तर्व्याप्त है। कवि 'चिर किशोर वय नित्य विलासी' देवजाति का स्मरण करता हुआ खनखनाते हुए कंकणों, झनझनाते हुए नूपुरों, गीतों में मुखरित कलरव मे स्वर-लय के अभिसार और अचेतन गतिशीलता[2] की याद दिलाता हुआ देवजाति की विलासमयी जीवन-पद्धति को मूर्त रूप दे गया है—

> वह अनंग-पीड़ा-अनुभव-सा
> अंग भंगियों का नर्तन,
> मधुकर के मरंद-उत्सव-सा
> मदिर-भाव से आवर्तन।
> सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
> नयन भरे आलस-अनुराग,
> कल कपोल था जहां बिछलता
> कल्प वृक्ष का पीत पराग।[3]

किन्तु इसके पहले कवि कह देता है—

> भरी वासना सरिता का वह
> कैसा था मदमत्त प्रवाह,
> प्रलय जलधि में संगम जिसका
> देख हृदय था उठा कराह।[4]

---

१ कामायनी, पृ० २३–२५
२ कामायनी, पृ० २०–२१,
३ वही, पृ० २१,
४ वही, पृ० २०

और विलासमय जीवन के भव्य चित्रण के बाद वह लिख देता है—

विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये,
आह जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल में गले, गये ।[1]

इस प्रकार जो गेस्टाल्ट बनता है उसमे विलास चित्रण के बावजूद आनंद कल्पना के लिए अवकाश नहीं रहता। वहां तो मनु को सर्वत्र मृत्यु ही मृत्यु, ध्वंस ही ध्वंस दिखलाई देता है—

मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रकट अभाव
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव ?

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती,
काल-जलधि की सी हलचल ।[2]

× × ×

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घन-माला में
सौदामिनी संधि सा सुदंर,
क्षण भर रहा उजाला में ।[3]

ऐसे भीषण परिवेश में कवि ने जीवनैषणा का उदय चित्रित किया है। प्रलय-निशा का प्रातःकाल होता है, सोई हुई वनस्पतियाँ शीतल जल से मुख धोती हुई जागती हैं, फिर भी प्रलय का दृश्य विद्यमान रहता है—

किसका था भ्रू भंग प्रलय सा
जिसमें विकल
अरे ! प्रकृति के
फिर ल

१ वही, पृ० २१,
२ वही, पृ० २८
३ कामायन

विकल हुआ सा कांप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी,
वे थे विवश और निरुपाय ।[1]

और इस स्मृति के रहते हुए ही जीवन की कामना उनके मन में उदित होती है। थोड़ी देर पहले जहां उन्हें सर्वत्र मौन, नाश, विध्वंस और अंधेरा दिखलाई दिया था अब वहीं उन्हें जीवन की पुकार सुनाई देने लगती है—

जीवन-जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह ?

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्या
लगा गूंजने कानों में ?
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूं'
शाश्वत नभ के गानों में ।[2]

कवि ने 'मृत्यु' (विनाश) से कथा आरंभ कर सर्वप्रथम जीवनैषणा की प्रदम्यता उपस्थित की है क्योंकि वह जिस आनन्द की स्थापना करना चाहता है उसको आधार जीवन में ही मिल सकता है। जीवनैषणा उदित हो चुकने पर कवि को आनन्द की चर्चा का अवकाश मिलता है। इसलिए 'श्रद्धा' सर्ग में कवि इस जीवनैषणा को दृढ करता हुआ आनन्द की चर्चा भी कर गया है। श्रद्धा जहां एक ओर 'जीवन की लालसा' को दृढ़ करती है वहीं समस्त सृष्टि को महाचिति की आनन्दमयी लीला की अभिव्यक्ति भी कहती है—

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें धर मन में सुंदर वेश ?[3]

+ + +

१ वही पृ० ३५।
२ वही, पृ० ३७।
३ कामायनी, पृ० ६२।

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में होते सब अनुरक्त ।[1]

कामायनी के प्रथम तीन सर्गों में आनंद की प्रस्तावना देखी जा सकती है। इन तीन सर्गों में कवि ने आनन्द की आधारभूमि जीवनैषणा—का क्रमिक उपस्थापन किया है। पहले मृत्यु (विनाश) का चित्रण किया है, तदुपरान्त जीवनैषणा की अदम्यता सूचित की है और तब कहीं आनन्द की चर्चा आरंभ की है। इस क्रमिक उपस्थापन के बीच-बीच में विनाश की स्मृति से उत्पन्न विक्षोभ उमड़ता हुआ दिखलाई देता है। चिन्ता सर्ग मे तो उसकी प्रमुखता है ही, आशा में भी 'दोनों चिन्ता कभी नवीन' और 'श्रद्धा' मे तो मनु की पीड़ा श्रद्धा के समक्ष फूट ही पड़ती है। इस से जीवन के विरुद्ध मृत्यु का अनवरत संघर्ष सूचित होता है। कवि ने प्रथम तीन सर्गों मे आनन्द की क्रमिक प्रस्तावना सुनियोजित ढंग से अवश्य ही प्रस्तुत की है, किन्तु उसके साथ वह विक्षोभ का द्वन्द्व उपस्थित करना भी नही भूला है। यहां यह विक्षोभ अस्तित्व की समस्या से उत्पन्न होता है, आगे चल कर यह एक दूसरे रूप में व्यक्त होता है, किन्तु इतना आरम्भ से ही स्पष्ट है कि आनन्द के विरुद्ध विक्षोभ का द्वन्द्व प्रसाद ने बहुत दूर तक दिखलाया है जो 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' की सूक्ति का मूर्त रूप तो उपस्थित करता ही है, जीवन मूलप्रवृत्ति के द्वन्द्व विषयक फ्रायड के सिद्धान्त को भी याद दिलाता है।[2]

परिवेश के साथ सामंजस्य की अक्षमता

'श्रद्धा' सर्ग के उपरान्त कामायनी का संघर्ष एक दूसरे ही धरातल पर स्थित दिखलाई देता है। श्रद्धा—जो जीवन ऊर्जा का प्रतीक है[3]—मनु को जीवन के प्रति उत्साहित करती हुई आनन्द की ओर संकेत कर जाती है। श्रद्धा के सम्पर्क के परिणाम स्वरूप मनु को काम का साक्षात्कार होता है। काम जीवन-माधुर्य का प्रतीक[4] और

१ वही, पृ० ६३।

2 Polarity enough ! Eros and thantus—Eros the principle of life and growth, thantus, the principle of decay and death. Eros the loving and constructive, Thantus the hateful and destructive—R.S. woodworth, Contemporary Schools of Psychology p. 184.

३ द्रष्टव्य—प्रस्तुत पुस्तक में श्रद्धा-विषयक विवेचन

४ द्रष्टव्य—प्रस्तुत पुस्तक मे काम-विषयक विवेचन

श्रद्धा का जनक है। वह भी मनु के मन में जीवन की ललक जगाता हुआ विगत काल में अपनी विलासमयता के प्रायश्चित के लिए मानव-मंगल का संकल्प करता है[1] और मनु की हार्दिकतापूर्ण कर्मण्यता को प्रेरणा भी देता है।[2] इस प्रकार श्रद्धा सर्ग के तुरन्त बाद आनन्द की प्रतिष्ठा का एक सशक्त प्रयत्न कामायनी के 'श्रद्धा' और 'काम' सर्गों में दिखलाई देता है; किन्तु वहाँ वह पुनः बाधित होता है; किसी बाह्य कारण से नहीं, मनुष्य की अपनी प्रकृति के कारण। श्रद्धा सर्ग के उपरान्त संघर्ष जो नया मोड़ लेता है उसका कारण परिवेश की भीषणता न रहकर परिवेश के साथ सामंजस्य की मनुष्य की अपनी अक्षमता है।

इस अक्षमता का प्रकाशन कवि ने मुख्यतया दो कोणों से किया है— १) सौहार्द और समर्पणशीलता के अभाव के परिणाम स्वरूप आत्मीय जनों से निरन्तर बिगड़ते हुए सम्बन्धों के रूप में और (२) नियमन को अस्वीकार करने के परिणाम स्वरूप अराजकता के रूप में।[3] 'इड़ा' सर्ग के पूर्वार्द्ध तक प्रथम कारण से मनु परिवेश के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते तो 'इड़ा' सर्ग के उत्तरार्द्ध से 'संघर्ष' सर्ग के अन्त तक वे दूसरे कारण से सामंजस्य से वंचित रहते हैं।

वस्तुतः मनु श्रद्धा और काम के द्वारा दी गई जीवन प्रेरणा को भ्रांत अर्थ में ग्रहण करते हैं[4] इसलिए वे जब जीवन कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो इतर प्राणियों (पशु) के प्रति (आक्रामक, विध्वंसकारी, अहितकर) रुख लेकर। इसलिए वहाँ श्रद्धा-हार्दिकता—उनसे रूठ जाती है और हार्दिकता के अभाव में आनन्द का प्रश्न ही नहीं रहता। मनु प्रयत्न करके थोड़ी देर के लिए श्रद्धा-हार्दिकता—को मना लेते हैं अर्थात् मन की क्रूरता के बावजूद कभी-कभी उसमें हार्दिकता का उदय हो सकता है, किन्तु वह

---

१ 'मानव की शीतल छाया में ऋण शोध करूंगा निज कृति का'—
कामायनी, पृ० ८६

२ यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।—वही पृ० ८५

३ श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब कहाँ रुका मैं ?
इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना,
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना।—वही पृ० २०२

४ श्रद्धा के उत्साह वचन फिर कर्म-प्रेरणा मिलके,
भ्रांत अर्थ बन आगे आये बने ताड़ थे तिल के।—वही पृ० १२०

क्रूरता यहां तक बढ़ती है कि प्रेम के क्षेत्र में आधिपत्य भावना का रूप लेकर प्रेम का किंचित् विभाजन भी स्वीकार नहीं करती। मनु का अपने भावी पुत्र से ईर्ष्या करना कि वह उनकी पत्नी के प्रेम को बांट लेगा इस प्रकार की असहिष्णुता का चरम निदर्शन है।[1] इसलिए मनु श्रद्धा के साथ निर्वाह नहीं कर पाते—ईर्ष्या के कारण हार्दिकता से मन विरक्त हो जाता है। काममनु के क्षुब्ध रहने का कारण स्पष्ट करता हुआ यही समझाता है।

अब यह बात स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है कि श्रद्धा सर्ग से 'इड़ा' के पूर्वार्द्ध तक मनु आनंद की उपलब्धि में अपनी प्रकृति के कारण असफल रहे। उसमें परिवेश का कोई दोष नहीं था—दोष था मनु (मन) की क्रूर और सर्वाधिपत्यमयी प्रवृत्ति का। किलात और आकुलि, जो यहां क्रूरता के प्रतीक हैं, वस्तुतः मृत्यु-मूल प्रवृत्ति के उस रूप की अभिव्यक्ति करते हैं जो व्यक्ति को परिवेश के प्रति आक्रामक बनाती है।[2] किलात-आकुलि के सम्पर्क में आने के उपरान्त मनु परिवेश के प्रति असहिष्णु, अनुदार और आक्रामक रुख धारण किये रहते हैं। समर्पणशीलता का उनमें निरंतर अभाव रहता है जिसके परिणाम स्वरूप वे हार्दिकता से विमुख होते हैं और अन्तर्दर्शन के क्षणों में यह स्वीकार करते हैं—

मुझ में ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता,
हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता।
वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन—
सचमुच मैं हूं श्रद्धा-विहीन।[3]

---

१ यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूं बन एक तत्त्व।
यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बटाने का प्रकार
भिक्षुक मैं ! ना कभी नहीं
मैं लौटा लूंगा निज विचार।
—कामायनी, पृ० १६१।

२ द्रष्टव्य — प्रस्तुत पुस्तक मे किलात-आकुलि-विषयक विवेचन।

३ कामायनी, पृ० १७३।

श्रद्धा विहीनता की स्थिति में उन्हें इड़ा—नियमनकर्त्री भौतिक बुद्धि[1]—का आश्रय प्राप्त होता है और मनु उसके सहारे जीवन यापन करते हुए[2] नियमन में प्रवृत्त होते हैं। नियमन करते हुए वे समाज को वर्गों में विभाजित कर देते हैं और वैज्ञानिक आविष्कारों के रूप में यंत्रों द्वारा प्रकृति की शक्ति छीन लेते हैं।[3] समाज के विभिन्न वर्गों में विभाजन से वर्ग संघर्ष का जन्म होता है और वैज्ञानिक आविष्कारों की यांत्रिकता से जीवन की सहजता का संघर्ष होता है। इस प्रकार बुद्धि के प्रश्रय में संघर्ष का व्यापक प्रसार होता है। वास्तव मे नियमन और आविष्कारों के द्वारा बुद्धि का लक्ष्य मानव जीवन को सुखी बनाना होता है, किन्तु उसके प्रयत्नों की परिणति उसके लक्ष्य के विपरीत संघर्ष के रूप में होती है। इसी को लक्ष्य मान कर प्रसाद ने लिखा है—"फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है।"[4]

बुद्धि के आश्रय मे रह कर भी मन पूर्णतया नियमन को स्वीकार नहीं करता। इससे अराजकता उत्पन्न होती है। अब तक मनु शेष सृष्टि के प्रति—परिवेश के प्रति-आक्रामक थे; अब परिवेश उनके विरुद्ध आक्रामक हो जाता है। इस प्रकार व्यक्तित्व और परिवेश में जो तनाव-संघर्ष-उत्पन्न होता है वह मनु (मन) के लिए घातक सिद्ध होता है।

अंतर-विघटन की समस्या

सारस्वत नगर की जनता का विद्रोह जहां एक ओर व्यक्ति के विरुद्ध परिवेश के आक्रामक रुख का प्रतीक है वहीं वह मन के विरुद्ध चेतना के विभिन्न घटकों के संघर्ष का भी प्रतीक है। किलात – आकुलि जिन्होंने इतर प्राणियों के प्रतीक पशु के प्रति मनु (मन) की क्रूरता का पौरोहित्य किया था, वही अब मनु के विरुद्ध सारस्वत नगर की प्रजा के आक्रमण का नेतृत्व भी करते हैं। मन की क्रूरता मन को ही खाती है—मृत्युमूलप्रवृत्ति का अन्तर्मुखी रूप ऐसा ही होता है। मन जब नियमन की

---

१ द्रष्टव्य-प्रस्तुत पुस्तक में इड़ा विषयक विवेचन।

२ मुझ से बिछड़े को अवलम्बन—
देकर तुमने रक्खा जीवन;—कामायनी, पृ० २४६।

३ (क) प्रकृति-शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी!
शोषण कर जीवनी बनादी जर्जर झीनी!—वही, पृ० २११

(ख) चार वर्ण बन गये, बंटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यंत्र बन चले न देखा जिनका सपना।
—वही, पृ० २०८।

४ कामायनी, आमुख पृ० ७।

अवहेलना करता है तो नियमन क्रूर दमन के रूप में उसे नियंत्रित करता है। दोनों प्रकार की क्रूरता मूलतः एक ही है।[1]

प्रलय के उपरान्त इस घटना से मनु को सबसे अधिक आघात लगता है क्योंकि उनका इस प्रकार का पराभव पहले कभी नहीं हुआ था। इस पराभव का कारण था मन और बुद्धि का असामंजस्य जो व्यक्तित्व के आंतरिक विघटन की ओर संकेत करता है। यह आंतरिक विघटन आनंद के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।

मानसिक स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए एफ. एल. लूकस ने "लिटरेचर एण्ड साइकॉलाजी" शीर्षक पुस्तक में पृ. ३११–१२ पर लगभग यही बात कही है—"स्वभावतः ठीक-ठीक यह बतलाना सरल नहीं है कि मानसिक स्वास्थ्य क्या है ? मनोविश्लेषक भी, जो सबसे अधिक इससे सम्बन्धित हैं, अभी तक इसकी परिभाषा करना कठिन पा रहे हैं। सभी जीवित मनों में कुछ-न-कुछ संतुलन का अभाव या विकार होता है, लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके सम्बन्ध में इस अभाव या विकार की शिकायत नहीं उठ पाती, और वे हैं ऐसे मनुष्य जो (१) सब प्रकार के निरर्थक अन्तर्द्वन्द्वों से मुक्त हैं, विशेषतः उन अन्तर्द्वन्द्वों से जिनका सम्बन्ध अलचेतन खंडों से है, जहां विवेक की पहुंच नहीं हो पाती, (२) जो प्रायः अचेतन में रहने वाले उन घातक उद्वेगों से मुक्त हैं जो मनुष्य की प्राणशक्ति को नष्ट करते हैं—जैसे आत्मरति मूलक अपराध—आदि, (३) जो अपनी पूरी शक्ति से कार्य करने में समर्थ हैं, (४) जो सभी मनुष्यों और वस्तुओं को हृदय की अविभक्त ऊष्मा के साथ प्यार दे सकते हैं।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण में मानसिक स्वास्थ्य-आनन्द-के विघातक जिन तत्वों की चर्चा की गई है उनमें सर्वप्रथम मन के अन्तर्द्वन्द्व और अचेतन में रहने वाले घातक उद्वेगों का उल्लेख है।

कामायनी में प्रसाद ने त्रिपुर–विश्लेषण मे अंतर-विघटन की यही समस्या उठाई है जो संघर्ष की अन्तिम स्थिति, साथ ही आनंद की उपलब्धि में प्रबलतम बाधा भी है—

> मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध; दोनों में हो सद्भाव नहीं
> यह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाय कहीं।[3]

प्रसिद्ध मनोविश्लेषक युंग ने भी विश्वास और ज्ञान (Faith and Knowledge) के विकर्षण के रूप में इस समस्या की चर्चा की है और उसे आज की मानसिक

१ प्रस्तुत पुस्तक में किलात–आकुलि–विषयक विवेचन।

२ डॉ० जगदीश प्रसाद शर्मा कृत "रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन" पृ० ४–५ से उद्धृत

३ कामायनी, पृ० १७७

अव्यवस्था का प्रमुख कारण माना है।[1] प्रसाद ने इस आंतरिक संघर्ष को अंतर-विघटन के रूप में उपस्थित करते हुए उसकी द्वन्द्वात्मकता के स्थान पर संघर्ष को त्रिकोणात्मक रूप दिया है। शैव-दर्शन की त्रिपुर-कल्पना से उन्हें इस समस्या को उपस्थित करने में सहायता मिली है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों में अपूर्णता की संवेदना ने इच्छा, क्रिया और ज्ञान के अवयवों को विकसित किया है।[2] इस प्रकार इच्छा, क्रिया और ज्ञान मनुष्य की हीनता की पूर्ति करते हैं, किन्तु विडम्बना यह है कि वे एक दूसरे से प्रायः मिल नहीं पाते। वे एक-दूसरे से पृथक् रहकर सक्रिय रहते हैं—उनमें तालमेल नहीं हो पाता; इतना ही नहीं कभी-कभी वे एक दूसरे के विरुद्ध भी सक्रिय होते हैं। फलतः आनंद की उपलब्धि नहीं हो पाती। रहस्य सर्ग में कवि ने जीवन के इसी रहस्य का उद्घाटन किया है जो आनंद की अनुपलब्धि की समस्या पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है—

यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिन्दु ये ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख-सुख में,
भिन्न हुये हैं ये सब कितने !
ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ![3]

अंतर विघटन की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण इसलिए है कि इससे व्यक्ति का आंतरिक संतुलन तो बिगड़ता ही है, उसका परिवेश के साथ सामंजस्य भी बना नहीं

1 The rupture between faith and knowledge is a symptom to the spilit consciousness which is so characterstick of the mental disorder of our day.

—C. G. Jung, The Undiscovered Self, p. 74.

2 The very stimulation growing up from an uninterrupted feeling of inadequacy, developed foresight and precaution in man, and caused his soul to develop to its present state, an organ of thinking, feeling and acting.

—A. Adler. Understanding Human Nature, p. 30.

३ कामायनी, पृ० २८४

रह सकता और व्यक्ति के उन्नयन के बिना समाज का उन्नयन भी नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार प्रसाद ने आनंद को बाधित करने वाले संघर्ष को विभिन्न स्तरों पर उठाया है। परिवेश की भीषणता से उत्पन्न संघर्ष से कवि ने कामायनी की कथा आरंभ की है, तदुपरान्त समर्पणशीलता के अभाव में परिवेश के साथ निर्वाह में व्यक्ति की अक्षमता को उठाते हुए कवि ने बुद्धिवाद के उदय फलस्वरूप प्रकृति से संघर्ष की चर्चा करने के साथ मानव समाज के वर्ग-विभाजन और उससे उत्पन्न वर्ग-संघर्ष का चित्रण किया है। इस बाह्य संघर्ष के उपरांत कवि ने उसके मूल व्यक्ति के आंतरिक तनाव और विघटन-त्रिपुर-का चित्रण किया है। इस प्रकार कामायनी की कथा का संयोजन संघर्ष के क्रमिक उत्थान के रूप में दिखलाई देता है।

आनंदोपलब्धि का मार्ग : समरसता

जीवन संघर्ष का यह चित्र बड़ा ही भीषण है। यदि इस संघर्ष-चित्रण के साथ कवि ने निरंतर आनन्दोपलब्धि पर बल न दिया होता तो कामायनी का स्वाद कुछ-कुछ कसैला होता—जैसा कि प्रायः यथार्थवादी साहित्य का होता है, किन्तु कवि का प्रतिपाद्य जीवन-संघर्ष की भीषणता नहीं, प्रत्युत जीवन में आनंद की प्रतिष्ठा है; इसलिए जीवन संघर्ष को उसने उस आनंद के व्याघात के रूप में ही उभारा है और जीवन के भीषण संघर्ष के मध्य आनंद की प्रतिष्ठा के लिए उसने समरसता का मार्ग खोज निकाला है।

'समरसता' शब्द भी 'आनंद' के समान शैव-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग प्रसाद ने व्यावहारिक अर्थ में किया है। कामायनी में इस समरसता की वाहिका श्रद्धा है। प्रलयभीत मनु को वह दुःख-सुख की समरसता का संदेश देती है—

दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत् की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।

---

1 It is, unfortunately, too clear that if the individual is not truly regenerated in spirit, society cannot be either, for society is the sum total of individuals in need of redumption.
—C. G. Jung, The Undiscovered Self p. 56.

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही सुख-दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान[1]

यहाँ समरसता का अर्थ सुख और दुःख दोनों के मध्य एक सी स्थिति बनाए रखना-समरस अर्थात एक जैसा रहना-है। यह गीता की स्थितिप्रज्ञता की जैसी ही स्थिति है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
विगतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।[2]

श्रद्धा सर्ग के उपरांत जहाँ संघर्ष परिवेश के साथ निर्वाह में व्यक्ति की प्रसन्नता से उद्भूत है वहाँ समरसता का प्रयोग स्व और पर के मध्य सामंजस्य के अर्थ में किया गया है। वहा श्रद्धा सामाजिक भावना की तुष्टि चाहती हुई स्व और पर के सौहार्द पर बल देती है। यहाँ विशेष रूप से स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व को उभारते हुए कवि ने अधिकार (Possessed) और अधिकारी (Possessor) की समरसता की बातें कही है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।[3]

इसके अतिरिक्त इस स्तर पर अन्यत्र 'समरता' शब्द का प्रयोग तो कवि ने कदाचित् नहीं किया है किन्तु श्रद्धा के मुख से स्व और पर के सामंजस्य पर बल निरन्तर दिलवाया है। इतर प्राणियों के प्रतीक पशु के वध से क्षुब्ध श्रद्धा मनु की सामाजिक भावना को जगाने का प्रयत्न करती हुई कहती है—

औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सबको सुखी बनाओ।[4]

---

१ कामायनी, पृ० ६३-६४
२-गीता, २/५६
३ कामायनी, पृ० १७४
४ वही, पृ० १४३

इसके लिए वह मनु से 'स्व' का विस्तार करने का अनुरोध करती है—

प्रिय अब तक हो इतने सशंक
देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन
अपराध तुम्हारा वह बंधन
लो बना मुक्ति अब छोड़ स्वजन।[1]

व्यक्ति-मनोविज्ञान के प्रतिष्ठापक एडलर ने भी मनुष्य की असफलता का कारण इतर वस्तुओं और प्राणियों के प्रति उसकी असहिष्णुता बतलाते हुए[2] व्यक्ति और समाज के सामंजस्य की खोज की है।[3]

जब मन व्यवसायात्मिकता बुद्धि के प्रश्रय में भौतिक सुखों की खोज में दुःख पाता है तब श्रद्धा बुद्धि की हृदयहीनता-निर्ममता-की विगर्हणा करती है।[4] वह उसके साथ हृदय का समन्वय चाहती है—बुद्धि व्यापार को सौहार्दपूर्ण रूप देना चाहती है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंप कर इसी समन्वयार्थक समरसता का प्रतिपादन करती है—

---

१ वही, पृ० २६१

2 His (individual's) lack of practical success in all he undertakes springs from his self-regarding fear of his own personality and his cousequent intolerance for the existence of other things. He is never in a position to regard the outside world with any thing like sympathy or to accord to reality in its full measure of value.

--Lewis Way, Adler's place in Psychologhy p. 196-97

3 What Adler was in search of was a reconciliation between individual and society, a means of effecting a reintegration of the maladjusted neurotic with his environment through a simple code of conduct that would satisfy the both.

--Ibid. p. 186

४ सिर चढ़ी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय

—कामायनी, पृ० २५३।

हे सौम्य इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार ;

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
है मननशील कर कर्म अभय
इसका सब तू संताप निचय
हर ले, हो मानव-भाग्य उदय
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन मां की पुकार ![1]

अन्तर-विघटन की समस्या के स्तर पर भी श्रद्धा समन्वय के मार्ग से, जिसके लिए ऊपर 'समरसता' शब्द का प्रयोग किया गया है, आनन्द की प्रस्तावना करती है। श्रद्धा की स्मिति से इच्छा, क्रिया और ज्ञान के परस्पर विच्छिन्न लोक सहसा सम्बद्ध हो जाते हैं। इससे मनुष्य की चेतना शक्ति के विभिन्न अवयवों का समन्वय सूचित होता है—

महाज्योति-रेखा-सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।[2]

+ + +

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे ।[3]

और तब आनन्द की जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें पार्थक्य–भावना सम्पूर्णतया समाप्त हो जाती है । प्रेम की शक्ति से अपने पराये का भेद मिट जाता है—यहां

---

१ कामायनी, पृ० २५६ ।
२ वही, पृ० २८५ ।
३ वही, पृ० २८५ ।

तक कि जड़–चेतन सभी ऐक्य–चेतना से आप्लावित हो जाते हैं और इस समरसता की स्थिति में अखंड एवं सघन आनन्द की उपलब्धि होती है—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम–ज्योति विमला से
सब पहिचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।[1]

निबंधों में 'समरसता' की कल्पना : कामायनी से तुलना

अपने निबन्धों में 'प्रसाद' ने अनेक स्थानों पर 'समरसता' शब्द का उल्लेख करते हुए उसके आंतरिक और बाह्य दोनों पक्षों को उपस्थित किया है, किन्तु वे उसकी चरम परिणति पूर्ण अभेदावस्था की उपलब्धि में मानते हैं। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने शैवों की दार्शनिक शब्दावली से गृहीत उसके पारिभाषिक अर्थ की ही प्रायः चर्चा की है[2], किन्तु 'रस' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर उसकी व्याख्या की है। 'शान्तरस' के रूप में समरसता को ग्रहण करते हुए उन्होंने उसके आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन किया है। शांतरस सुख दुःख की संवेदना से परे की स्थिति है। इसलिए प्रसाद ने लिखा है—"यह शान्त रस निस्तरंग महोदधि-कल्प समरसता ही है।"[3] कामायनी के श्रद्धा सर्ग में प्रसाद ने सुख–दुःख के मध्य समरसता स्थापित करने की जो बात कही है उसमें इसी रूपक को कवि ने उपस्थित किया है—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही सुख–दुःख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।[4]

---

१ वही, पृ० ३०६।

२ द्रष्टव्य प्रस्तुत पुस्तक में "कामायनी का प्रतिपाद्य: विभिन्न पक्ष" शीर्षक

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ८७

४ कामायनी, पृ० ६४

होती है जैसे समुद्र की लहरें अलग-अलग दिखलाई देने पर भी मूलतः अलग-अलग नहीं होतीं।[1]

व्यावहारिक धरातल पर इस स्थिति का अनुमान बहुत कुछ साधारणीकरण द्वारा उपलब्ध 'रस-दशा' के द्वारा किया जा सकता है जहां रसानुभूति के क्षण में सामाजिकों की वैयक्तिक विभिन्नता तिरोहित हो जाती है और सभी सामाजिक निजी भेदों से ऊपर उठकर एकरस हो जाते हैं—एक ही रस, एक ही अनुभूति में डूब जाते हैं।[2] इसलिए प्रसाद ने लिखा है "इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है।"[3]

साधारणीकरण की प्रक्रिया बहुत कुछ समरसता की ही प्रक्रिया है और उससे उपलब्ध रसानुभूति आनंदानुभूति है। कामायनी के अंत में फलागम की स्थिति में कवि ने समरसता की प्रक्रिया से उपलब्ध इसी अभेदमूलक आनंद तत्व की प्रतिष्ठा की है—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।[4]

निष्कर्ष

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रसाद' ने 'समरसता' शब्द को आंतरिक और वाह्य सामंजस्य के अर्थ में ग्रहण किया है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। आपने आंतरिक अर्थ में यह उस मानसिक संतुलन का वाचक है जिसमें सुख-दुःख की उद्विग्नता मिट जाती है। इस उद्विग्नता का तिरोभाव होने पर ही मानसिक

---

१ चेतन समुद्र में जीवन लहरों-सा बिखर पड़ा है
कुछ छाप व्यक्तिगत; अपना निर्मित आकार खड़ा है।
—वही पृ. ३००

२ वैसे अभेद सागर में प्राणों का सृष्टिक्रम है,
सब में घुलमिलकर रसमय रहता यह भाव चरम है।
—वही, पृ० ३००

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७६

४ कामायनी, पृ० ३०६

स्वास्थ्य (ग्रानंद) की उपलब्धि संभव है। अनुद्विग्नता की अवस्था की उपलब्धि भी तभी हो सकती है जब कि व्यक्ति और उसके परिवेश में सामंजस्य हो-तादात्म्य हो। इसके लिए मनुष्य को स्व की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर विश्वात्म या विश्वैक्य की अनुभूति करनी होगी। श्रद्धा मनु को निरंतर इसी की अनुभूति कराने का प्रयत्न करती है और उसकी उपलब्धि के साथ ही आनंद की उपलब्धि होती है। इसी रसमय चरम भाव[1] (आनंद) की उपलब्धि का प्रयत्न कामायनी में आद्यंत किया गया है और उसके उपलब्ध हो जाने के बाद ही कथा समाप्त की गई है।

---

१ सब में घुलमिलकर रसमय
रहता यह भाव चरम है।

—वही, पृ० ३०२

अध्याय ८

मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास

कामायनी में 'आनंद' की जो समस्या उठाई गई है उसका निरूपण प्रसाद ने अत्यन्त व्यापक फलक पर किया है। जिस प्रकार व्यक्ति का जीवन आनन्द की अनन्त शोध है उसी प्रकार समष्टि जीवन भी आनन्द की शोध में निरत रहता है। समग्र मनुष्य जाति अनादि काल से आनन्द की शोध में लीन रही है। इसलिए मानव जाति का इतिहास आनन्द की शोध का इतिहास रहा है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न मोड़ आनन्द की शोध के विभिन्न पड़ाव हैं। इस दृष्टि से मनुष्य जाति का इतिहास मूलतः *मनोवैज्ञानिक इतिहास है, हमारी विभिन्न संस्थाएँ उसी का* बाह्य प्रकाशन हैं। कामायनी में प्रसाद ने इस दिशा में मूलतः मनुष्य जाति के विकास के आंतरिक–मानसिक–पक्ष का निरूपण करते हुए सामाजिक संस्थाओं के उदय की कथा कही है।

कामायनी का आरम्भ प्रलय की पृष्ठभूमि में होता है जिससे यह संकेत मिलता है कि प्रसाद ने मनुष्यता का इतिहास अनादि व्यवस्थाहीनता (Chaos) की स्थिति से आरम्भ किया है उससे पूर्व प्रसाद ने वैभवसम्पन्न और विलासमयी देव संस्कृति के अस्तित्व की चर्चा अवश्य की है, किन्तु प्रलय हो जाने पर वह संस्कृति ध्वस्त हो जाती है और नए सिरे से सृष्टि-विकास होता है। अतएव कामायनी की कथा का आरम्भ सृष्टि—मानव-समाज—के उदय के रूप में मानना उचित होगा।

प्रथम भूमिका

मनुष्यता के इतिहास को यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो उसमें सर्वप्रथम अपने अस्तित्व का बोध उत्पन्न हुआ होगा और उसी के साथ अपना अस्तित्व बनाए रखने की आकांक्षा भी। इस प्रारम्भिक भूमिका का चित्रण करते हुए प्रसाद ने 'कामायनी' में लिखा है—

"मैं हूं यह वरदान सदृश क्या
लगा गूँजने कानों में ?
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूं,
शाश्वत नभ के गानों में।'[1]

1 कामायनी, पृ० ३०

अपने अस्तित्व से ही मनुष्य को संतोष नहीं हुआ, उसे अपने जैसे अन्य लोगों के अस्तित्व की भी इच्छा हुई जिसके मूल में उसकी साहचर्य-वृत्ति थी—

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन, बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो ![1]

द्वितीय भूमिका

सहचर मिलने पर सहजीवन ;आरम्भ होता है। सहचर विपरीतलिंगीय होने के कारण उस साहचर्य से मनुष्य जाति की वृद्धि की सम्भावना भी हो जाती है। विपरीत लिंगीय सहचर–स्त्री– के सम्पर्क में आने पर पुरुष में कोमल भावनाओं—दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास स्नेह आदि—का संचार हुआ होगा। इसी ओर संकेत करते हुए पहले प्रसाद ने श्रद्धा को सहचर रूप में उपस्थित किया है—

तुम्हारा सहचर बन कर क्या
न उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?[2]

और तदुपरान्त उसके माध्यम से मनुष्य के लिए कोमल भावनाएँ अर्पित करवाई गई हैं—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।[3]

इसके साथ ही मनुष्य जाति की वृद्धि की संभावनाओं का उल्लेख भी प्रसाद ने साहचर्य के उदय के साथ ही कर दिया है —

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल;
विश्वभर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।[4]

---

१ कामायनी, पृ० ४७,
२ वही, पृ० ६६;
३ वही, पृ० ६७;
४ वही, पृ० ६७;

साहचर्य का उदय मनुष्यता के विकास की द्वितीय भूमिका है। इस भूमिका में जहाँ कोमल भावनाओं का उन्मेष मनुष्य के मन में हुआ, वहीं लिंगीय-सम्बन्धों में वासना का उदय हुआ जो काम का अपरिष्कृत और संकुचित रूप है। उसमें ईर्ष्या का मिश्रण है और काम की आवेगमयी अभिव्यक्ति है।[1]

इस स्थिति का निरूपण करते हुए प्रसाद ने स्त्री-पुरुष के मनोवैज्ञानिक अन्तर का पूरा ध्यान रखा है। पुरुष आक्रामक होता है और इसलिए वासना में उसकी सक्रिय भूमिका होती है, स्त्री में निसर्गतः ऐसे अवसर पर लज्जा का उदय होता है और उसके मन में कामावेग और लज्जा का द्वन्द्व उठ खड़ा होता है। इस द्वन्द्व को मूर्त रूप देते हुए प्रसाद ने श्रद्धा के मुख से कहलवाया है—

मेरे सपनों में कलरव का
संसार आंख जब खोल रहा;
अनुराग समीरों पर तिरता
था इतराता-सा डोल रहा;

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को;
जीवन भर के बल-वैभव से
सत्कृत करती दूरागत को;

किरणों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलम्बन ले चढ़ती;
रस के निर्झर में धंस कर मैं
आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती;

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूंजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं।

संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौंहों की काली
रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही।

---

१ द्रष्टव्य-प्रस्तुत पुस्तक में काम का स्वरूप-विश्लेषण।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही ।[1]

तृतीय भूमिका : सभ्यता के विकास की अवस्थाएँ

लज्जा से नारी को सहर्ष करुणामय समर्पण की प्रेरणा मिलती है और स्त्री पुरुष के युग्म का निर्माण होता है। यही गार्हस्थ्य का प्रारंभ है। यहीं से जीवन की जटिलता प्रारंभ होती है। सभ्यता के विविध मोड़ों का प्रारंभ भी यहीं से होता है क्योंकि वह उसकी कर्मशीलता के नानारूप विकास पर निर्भर है सभ्यता के विकास का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने उसके विकास के चार मुख्य सोपान माने हैं —(१) आखेट अवस्था, (२) चरवाहा अवस्था, (३) कृषि अवस्था और (४) औद्योगिक अवस्था। कामायनी में इन विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु उसकी ओर संकेत अवश्य प्रतीत होता है।

आखेट अवस्था, पशुपालन और कृषि

गार्हस्थ्य के उदय के साथ प्रसाद ने मनुष्य की आदिम कर्मशीलता का निरूपण आखेट के रूप में किया है। मनुष्य के जीवन में वन्य पशुओं की समस्या भी आई होगी। उस समस्या का समाधान दो रूपों में हो सकता था—(१) पशुओं को पाला जाए; (२) उन्हें मार कर उदर-भरण किया जाए। मनुष्य ने दोनों रूपों में उसका समाधान किया—उपयोगी पशुओं को पाला और अनुपयोगी का आखेट कर उनसे उदर-भरण किया। प्रथम कार्य में ममता और स्नेह की प्रतिमूर्ति तथा गार्हस्थ्य की आधारशिला नारी की भूमिका महत्वपूर्ण थी और दूसरे में कर्मरत पुरुष की। इसलिए प्रसाद ने श्रद्धा द्वारा पशु-पालन दिखलाया है और मनु द्वारा उसकी बलि। बलि के उपरान्त मनु को आखेट में निरंतर लीन दिखलाया है। प्रसाद के अनुसार यह मनुष्य (प्रधानतः पुरुष) की प्रमुख कामना का परिणाम है—

मनु को अब मृगया छोड़ नहीं
रह गया और था अधिक काम;
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा सुख लाली से ललाम।

---

१ कामायनी, पृ० १०८-९

हिंसा ही नहीं, और भी कुछ
वह खोज रहा था मन अधीर।
अपने प्रभुत्व की सुख-सीमा
जो बढ़ती हो अवसाद चीर।[1]

इसके विरुद्ध श्रद्धा पशुओं के पालन पर बल देती हुई मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रतिवाद करती है—

पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ
वे क्यों न जियें उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ!

चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बन कर
हम अमृत दुहें, वे दुग्ध धाम।

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊंचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु ?[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद समाज-शास्त्रियों के समान प्रखेटावस्था और पशुपालन प्रवस्था में अनुक्रम नहीं मानते—उनके विचार से दोनों का उदय एक साथ दो प्रकार की भिन्न मनोवृत्तियों से हुआ। पुरुष की आक्रामक एवं प्रभुत्वकामी प्रवृत्ति की परिणति आखेट के रूप में हुई और स्त्री की वात्सल्यमयी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति पशु-पालन के रूप में। तभी उन्होंने मनु के आखेट-कर्म से पूर्व ही श्रद्धा द्वारा पालित पशु का उल्लेख कर दिया है और उसके साथ ही मनु द्वारा पशु की बलि भी दिखलायी है। इससे दोनों अवस्थाओं को समानान्तर मानने की प्रवृत्ति व्यक्त होती है।

इनके समानान्तर ही मनु ने कृषि अवस्था का चित्रण भी किया है। मनु जब आखेट करते घूमते हैं तब श्रद्धा घर पर रह कर शालियां बीनती है या अन्न इकट्ठे करती हैं, बीजों का संग्रह करती है और तकली चलाती है जिससे गृह-उद्योग-समायुक्त कृषि-अवस्था सूचित होती है।

---

१ कामायनी पृ० १२१।

२ कामायनी पृ० १२८-२६

इस प्रकार कामायनी में पशु-पालन, आखेट और कृषि को समानांतर दिखलाया गया है । इसका कारण शायद यह है कि यहाँ मानव-सभ्यता का विकास चित्रित करना कवि का उद्देश्य नहीं है, वह तो मनुष्य का मनोवैज्ञानिक इतिहास लिखना चाहता है । अतएव मानव मनोवृत्तियों के क्रम-विकास से जितना सम्बंध है उतना ही स्थान कवि ने उसे यहां दिया है । इसीलिए वह यहां अस्तित्व-निर्वाह की भावना के सम्बन्ध से आखेट, पशुपालन और कृषि के साथ लघु-उद्योग (तकली चलाना) का उल्लेख भी कर गया है ।

चतुर्थ भूमिका : बौद्धिकता का उदय और औद्योगिक क्रांति

बौद्धिक जागरूकता के उदय से मनुष्यता के विकास में चतुर्थ भूमिका प्रारम्भ होती है । बौद्धिक जागरण में प्रकृति के साथ संघर्ष उत्पन्न होता है और विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम स्वरूप औद्योगिक क्रांति होती है । श्रम विभाजन एवं विनयन होता है और परिणाम स्वरूप वर्ग-सृष्टि भी । शासन-विधान की रचना भी नियमन की दृष्टि से की जाती है । कामायनी में इस अवस्था के विभिन्न उपादानों का उल्लेख स्वप्न और संघर्ष सर्गों मे हुआ है—

(क) प्रकृति के साथ संघर्ष—

प्रकृति संग संघर्ष सिखाया तुमको मैंने ?[1]

(ख) वैज्ञानिक आविष्कार एवं औद्योगिक विकास

देश-काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से हैं
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके संबल में हैं;
बढ़े ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में
नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल में हैं ।[2]

(ग) विनयन—

विनयन का उपचार तुम्हीं से सीख निकाला।[3]

(घ) श्रम-विभाजन एवं वर्ग-सृष्टि

अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहां[4]

---

१ कामायनी, पृ० २०६;
२ वही, पृ० १६४,
३ वही, पृ० २०८
४ वही, पृ० १६३,

(ङ) नियमन—

में नियमन के लिए बुद्धि-बल से प्रयत्न कर
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर[1]

निष्कर्ष

इस प्रकार कवि ने विभिन्न मनोवृत्तियों के क्रमिक उदय—क्रमशः जिजीविषा, साहचर्य, काम-वासना, लज्जा, आक्रामक प्रवृत्ति, वात्सल्य और ममता के उदय के उपरांत बौद्धिकता के विकास के माध्यम से मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास कामायनी में प्रस्तुत किया है, किन्तु कवि मनुष्यता के इस विकास से संतुष्ट नहीं है क्योंकि इसमें आनंद की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए कवि ने मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक इतिहास की अंतिम अवस्था के साथ कथा को समाप्त नहीं किया है वह उसे मनुष्य जाति को उस अवस्था तक ले गया है जो वर्तमान तो नहीं, किन्तु लक्ष्य अवश्य है—वही कवि के लिए काम्य है जहाँ—

चेतन का साक्षी, मानव
हो निर्विकार हंसता-सा
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धंसता-सा
सब भेद भाव भुलवा कर
दुःख सुख को सदृश बनाता
मानव कह रे यह मैं हूँ
यह विश्व नीड़ बन जाता।[2]

प्रसाद ने बुद्धिवाद और दुःखवाद का सहज संघर्ष स्वीकार करते हुए उसकी अंतिम परिणति संघर्ष में मानी है—"वर्तमान युग बुद्धिवादी है, आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष सत्य मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। किन्तु इसमें एक बात और भी है। पश्चिम को उपनिवेश बनाने वाले आर्यों ने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएं विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भू भागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने

१ वही, पृ० २०१
२ कामायनी, पृ० ३०१,

के कारण इस जीवन को (ट्रेजेडी) दुःखमय ही पाया और यह उनको मनुष्यता की पुकार थी, ग्राजीवन लड़ने के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए, मुक्त अवसर देता रहा, इसलिए उनका बुद्धिवाद उनकी दुःख भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा।'[१]

इसलिए प्रसाद ने कामायनी में बुद्धिवाद का उदय और उसके साथ दुःखपूर्ण संघर्ष का उदय दिखला चुकने के उपरान्त कामायनी की कथा को आनंद की प्रतिष्ठा की ओर मोड़ा है क्योंकि उनकी दृष्टि में यह संघर्ष काम्य नहीं है, आनंद ही काम्य है और यह आनंद निहित है ऐकात्म्य की अनुभूति में जिसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति जीवन-सामंजस्य और सामाजिक अभेद में है; जैसा कि उन्होंने अपने एक निबंध में लिखा है—"भारतीयों की दृष्टि भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद-आनंद के स्वरूप में ग्रहण करो। इसमें विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत भाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्चन है। आत्म-प्रसार का आनंद-पथ है। इस का आस्वाद ब्रह्मानंद ही है।'[२]

१ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ८४-८५,
२ वही, पृ० ८१

अध्याय ६

स्त्री–पुरुष–सम्बंध की चिरंतन समस्या

कामायनी में मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि जहाँ एक ओर मन की विभिन्न वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं वहीं वे दूसरी ओर स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की चिरंतन समस्या भी उपस्थित करते हैं। कामायनी में श्रद्धा का उल्लेख अनेक स्थलों पर 'नारी' के रूप में हुआ है, जैसे—

क्या कहती हो ठहरो नारी![1]

× × ×

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो[2]

+ + +

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की[3]

+ + +

'नारी-जीवन का चित्र यही क्या?'[4] आदि.

इसी प्रकार मनु का उल्लेख पुरुष के रूप में मिलता है[5] जो सर्वत्र दार्शनिक अर्थ में 'पुरुष' का द्योतक न होकर अनेक स्थानों पर उसके लौकिक एवं व्यावहारिक अर्थ का द्योतक भी है। इसके साथ ही कवि ने बीच-बीच में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की अनेक समस्याओं का आख्यान भी लौकिक धरातल पर किया है जिससे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि कामायनी में गौण रूप से स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की चर्चा भी की गई है।

---

१ कामायनी, पृ० ११६

२ वही, पृ० ११६

३ वही, पृ० १७४

४ वही, पृ० ११५

५ एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह!
—वही, पृ० १२

कामायनी की कथा आदि पुरुष और आदि नारी की कथा है—इससे पूर्व विलासमयी देवजाति में स्त्री-पुरुषों का जो मुक्त सम्बन्ध था, वह मानवीय धरातल से परे की वस्तु प्रतीत होती है—कम से कम कवि की दृष्टि में वह काम्य नहीं है, इसलिए उसने प्रलय-पयोधि में उसका पर्यवसान दिखलाकर[1] नई सृष्टि में नए सिरे से स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की स्थापना का विचार किया है।

प्रलय के उपरान्त एकाकी मनु अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अपने आप से ही प्रश्न करते हैं—

कब तक और अकेले
कह दो हे मेरे जीवन बोलो[2]

संयोगवश शीघ्र ही श्रद्धा नामक एक स्त्री घूमती हुई उनके पास जा पहुँचती है। वह एकाकी और क्षुब्ध मनु को देखकर उनके प्रति सहानुभूति की भावना से भरकर उन्हें जीवन की ओर प्रेरित करती है और उनके सूने जीवन को सहारा देने के लिए अपना साहचर्य उन्हें प्रदान करती है। इस प्रकार पुरुष के एकाकी, सूने और नीरस जीवन में प्रवेश कर स्त्री उसे दया, माया, ममता, मधुरिमा, स्नेह, प्रेरणा और शक्ति प्रदान करती है।[3]

---

१ भरी वासना सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह।
प्रलय जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह!
—कामायनी, पृ० २०

२ वही, पृ० ४७

३ (क) दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास।
—वही, पृ० ६७

(ख) विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हंसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।
—वही, पृ० ६८

स्त्री-पुरुष के निकट सम्पर्क में आने पर काम का उदय होता है। काम की परिणति पुरुष में सर्व प्रथम उसके अपरिष्कृत रूप—वासना—के रूप में होती है और स्त्री में लज्जा के रूप में। वासना-पूर्ति में पुरुष सक्रिय हो उठता है [1] किन्तु लज्जा के कारण स्त्री के मन में द्वन्द्व उत्पन्न होता है जिसके परिणाम स्वरूप वह कामोपभोग में निर्बाध रूप से प्रवृत्त नहीं हो पाती।[2] अंततः उसके समक्ष करुणामय समर्पण का मार्ग ही रह जाता है।[3]

स्त्री-पुरुष के सहचर्य के साथ गार्हस्थ्य प्रारम्भ होता है। पुरुष भरण-पोषण के लिए कर्मरत रहता है और स्त्री गृह-लक्ष्मी के रूप में गृह-विधान में लगती है।[4] पुरुष अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति (आक्रामक एवं प्रभुत्वकामी प्रवृत्ति की परिणति) का परिचय अपने कर्म से देता है—इसके विपरीत स्त्री अपनी स्नेहमयी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर घर की देखभाल करती है और पशु-पालन के रूप में अपनी वत्सलता की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति करती है।

यहीं स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध समस्या का रूप लेता है। पुरुष स्त्री का पूर्ण प्रेम चाहता है, उसका किंचित विभाजन भी उसे स्वीकार्य नहीं है।[5] वह यह भी नहीं सह

---

१ छूटती चिन्गारियाँ, उत्तेजना उद्भ्रांत;
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत
वातचक्र-समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।
—कामायनी, पृ० १०२

२ रुकती हूँ और ठहरती हूँ पर सोच-विचार न कर सकती;
पगली-सी कोई अन्तर में बैठी जैसे अनुदिन बकती।
मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ;
भुज-लता फँसाकर नर-तरु से झूले सी झोंके खाती हूँ।
—वही पृ० ११५

३ क्या कहती हो ठहरो नारी ! संकल्प अश्रु-जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने।
—वही पृ० १२०

४ मनु देख रहे थे चकित नया यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान !
—वही पृ० १६२

५ यह द्वैत और द्विविधा तो है प्रेम बांटने का प्रकार।
वही, पृ० १६५

सकता कि उसकी स्त्री पालतू पशु को अपना स्नेह दे। इस पूर्णाधिपत्य की भावना के साथ वह नित्य नूतन स्वाद चाहता है।[1] स्त्री का गहन और सरल स्नेह उसे पर्याप्त नहीं लगता—वह रोमांस चाहता है जिसमें प्रेम कुछ चपल, उच्छलित, भावावेशमय और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण हो। ईर्ष्या सर्ग में यही समस्या उपस्थित की गई है।[2]

पुरुष विचरणशील है, वह गृह-केन्द्र से बंधना नहीं चाहता। दूसरी ओर स्त्री गृह-लक्ष्मी के रूप में गृह-केन्द्र का निर्माण करती है। पुरुष की विचरणशीलता से गृह-केन्द्र सूना रहता है, किन्तु शिशु के आगमन से इस अभाव की पूर्ति होती है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कवि ने लिखा है—

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
देखो यह तो बन गया नीड़,
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।
तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहां बैठ
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।[3]

× × ×

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न,

---

१ जो कुछ मनु के करतलगत था उसमें न रहा कुछ भी नवीन
श्रद्धा का सरल विनोद नहीं रुचता अब था, बन रहा दीन।
—कामायनी, पृ० १५२

२ श्रद्धा का प्रणय और उसकी आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति;
जिसमें व्याकुल आलिंगन का अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति;
भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं नव नव स्मिति रेखा में विलीन;
अनुरोध न तो उल्लास, नहीं कुसुमोद्गम-सा कुछ भी नवीन!
आती है वाणी में न कभी वह चाव-भरी लीला-हिलोर,
जिसमें नूतनता नृत्यमयी इठलाती हो चंचल मरोर।
—वही पृ० १५२

३ कामायनी, पृ० १६२.

मैं उसके लिए विछाऊंगी
फूलों के रस कर मृदुल फेन।
भूले पर उसे मुलाऊंगी
दुलराकर लूंगी वदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम
वह आवेग मृदु मलयज-सा
लहराता अपने मसृण वाल
उसके अधरों से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति लतिकासी प्रवाल।
अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर वोल,
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम-धूलि मकरंद घोल।
मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जाएगा अमृत स्निग्ध
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूंगी अपना चित्र मुग्ध।[1]

शिशु के आगमन से माता का सूनापन तो चहल-पहल में परिणत हो जाता है, किन्तु पिता के लिए-कम से कम अचेतन स्तर पर-यह स्थिति सुखद नहीं होती। पुत्र अपने पिता का प्रतियोगी बनकर आता है और इस अर्थ में वह अपने पिता का शत्रु होता है। फ्रायड ने ईडिपस-ग्रंथि की कल्पना इसी आधार पर की है। वह यह स्वीकार करता है कि "प्रायः पिता लड़के के लिए उतनी ही तकलीफ उठाने में माता के साथ उत्साह से होड़ करता है, पर उसकी नजरों में वही महत्त्व पाने में असफल रहता है, जो माता को प्राप्त है। संक्षेप में, लिंग-पसंदगी वाली बात कितनी ही आलोचनाओं द्वारा वस्तु स्थिति से हटाई नहीं जा सकती।"[2]

अपने प्रेक्षण के आधार पर फ्रायड ने यह पता लगाया है कि "शिशु पुरुष अपनी सारी की सारी माता को अपने लिए ही चाहता है, अपने पिता को इसमें बाधक देखता है, जब पिता को उसका आलिंगन करते देखता है, तब बेचैन हो जाता है और जब पिता बाहर चला जाता है या अनुपस्थित होता है, तब वह अपना संतोष जाहिर करता है।"[3]

१ वही, पृ० १६३-६४
२ फ्रायड मनोविश्लेषण, पृ० २६६ (अनु. देवेन्द्रकुमार वेदालंकार)
३ फ्रायड, मनोविश्लेषण, पृ० २६५

प्रसाद ने प्रतियोगिता की इस भावना को शिशु से निकालकर पिता की ओर उन्मुख कर दिया—संभवतः इसलिए कि विसामंजस्य की जिस समस्या को उन्होंने मनु के माध्यम से उपस्थित किया है, यहां भी उसके केन्द्र में मनु को ही रखना उचित समझा है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि पिता पुत्र की यौन-प्रतिद्वन्द्विता में प्रसाद का ध्यान पिता की ओर ही रहा है और इस समस्या को लेकर वे इतना आगे बढ़े हैं कि उसके कारण उन्होंने पुरुष को पत्नी से पराङ्मुख होते दिखला दिया है।

तब परकीया की समस्या सामने आती है क्योंकि स्वकीया से मनु के पलायन का कारण केवल पुत्र के प्रति ईर्ष्या ही नहीं था। श्रद्धा के सरल-संयत और गहन-गूढ़ प्रेम के प्रति उन की उत्र तथा नूतन आस्वाद की आकांक्षा भी उसके मूल में थी। अतएव जैसे ही अन्य स्त्री के साथ, जो कुछ चपल, चंचल, उत्तेजनशील थी,[1] उन्हें सम्बन्ध-स्थापन का अवसर मिला, उन्होंने उसका लाभ उठाया और उस पर आधिपत्य का प्रयत्न भी किया। कामायनी की इड़ा परकीया की भी प्रतीक है और इसी रूप में वह श्रद्धा के समक्ष अनुताप भी प्रकट करती है। कामायनी में इड़ा को भी श्रद्धा के समान 'नारी' के प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है,[2] किन्तु अन्य उल्लेखों से यह संकेत अवश्य मिलता है कि वहां उसका रूप परकीया का है। स्वकीया के अभाव में वह पुरुष को आश्रय देकर उसके जीवन की रक्षा करती है—इसलिए कामायनीकार ने उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। अपनी परकीयता के कारण इड़ा श्रद्धा के समक्ष अनुताप व्यक्त करती है—

जिस पर मैंने छीना सुहाग;
हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग;

मैं आज अकिंचन पाती हूँ
अपने को नहीं सुहाती हूँ
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ;

दो क्षमा न दो अपना विराग,
सोयी चेतनता उठे जाग![3]

---

१ द्रष्टव्य, इड़ा-विषयक विवेचन

२ नारी माया, ममता का बल; वह शांतिमयी छाया शीतल-कामायनी,
कामायनी पृ. २५०

३ वही, पृ० २५२;

कामायनी के स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-विषयक चिंतन में एक महत्वपूर्ण पक्ष छूट गया है। कवि ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में विसामंस्य का सम्पूर्ण दायित्व पुरुष पर-उसकी ईर्ष्यालु प्रकृति और असहिष्णुता तथा नित्य नूतनता के लोभ पर—डाल दिया है। इस सम्बंध को लेकर पुरुष के मानसिक विक्षोभ को उसकी आधिपत्य-प्रियता और उसकी व्यभिचारी प्रकृति में सीमित कर दिया है। स्त्री—विशेषकर निष्ठाहीन स्त्री भी-जिसका साक्षात्कार प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' की विजया के रूप में किया है-इसके लिए उत्तरदायी है-इस ओर कवि ने यहां ध्यान नहीं दिया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि यहां यह समस्या गौण है और उसका सर्वांगीण उपस्थापन यहां कवि का अभीष्ट नहीं रहा है। नारी जाति के प्रति कवि की अगाध श्रद्धा भी उसके मूल में हो सकती है जिसके कारण विजया के चरित्र को भी कवि ने अन्ततः ऊंचा उठा दिया है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अनेक पक्षों को कवि ने कामायनी में भली भांति उभारा है।

और वह श्रद्धा से प्रार्थना करती है—

अम्बे फिर क्यों इतना विराग
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग ?[1]

इसके उत्तर में श्रद्धा जो कहती है वह कदाचित् परकीया के प्रति स्वकीया के आदर्श व्यवहार का रूप है—

बोली, तुम से कैसी विरक्ति
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति

मुझ से बिछुड़े को अवलम्बन
देकर, तुमने रक्खा जीवन;[2]

इड़ा को लेकर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के विषय में प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो और प्रश्न भी उपस्थित किये है—(१) पिता और पुत्री का यौन-सम्बन्ध, और (२) (वि) माता-पुत्र का यौन-सम्बन्ध। इड़ा मनु की पुत्री है और वे उस पर बलात्कार भी करते हैं, जिसके पीछे कदाचित् फ्रायड का यह सिद्धान्त है कि हमने अपने देवताओं को निषिद्ध सम्भोग की छूट दे रखी है।[3] इसी प्रकार इड़ा और मानव-परिणय के सम्बन्ध में विद्वान् जो अनुमान लगाते हे यदि वह सही है तो उससे भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है और इस आधार पर यह मानना होगा कि प्रसाद ने समस्त नैतिक अवरोधों से परे निषिद्ध यौन-सम्बन्ध की प्रवृत्ति को स्वीकार किया हैं।

निष्कर्ष

इससे यह बात प्रमाणित होती है कि कामायनी के पात्र कवि के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विचारों के भी वाहक हैं और कवि ने इस समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य में, इसकी अनेक सूक्ष्मताओं और जटिलताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उपस्थित किया है तथा उसकी दृष्टि सदैव इस समस्या की मनोवैज्ञानिक धुरी पर रही है।

---

१ वही, पृ० २४८;
२ वही, पृ० २४९
३ द्र. इड़ा विषयक विवेचन

उपसंहार

कामायनी के प्रमुख प्रतीकों, कथा-संकेतों और कथानक के विभिन्न मोड़ों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'प्रसाद' कामायनी में अपने पाठकों से क्या कहना चाहते हैं। उन्होंने जीवन में आनन्द की समस्या को उठाया है और उसे ऐतिहासिक परिपार्श्व में रखकर देखा है। सचमुच यह इतिहास तिथिक्रम से आबद्ध इतिहास नहीं है। "तिथिक्रम मात्र से संतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा"[1] प्रसाद ने आनन्द-शोध की कथा कही है। इस प्रकार जहाँ एक ओर कवि ने मनुष्य जाति द्वारा आनन्दोपलब्धि के लिए किये गये युगयुगीन प्रयत्नों पर प्रकाश डाला है, वहीं दूसरी ओर इस समस्या के विभिन्न पक्षों को भी वह उपस्थित कर सका है।

कामायनीकार ने मनु को मन–व्यक्ति-मानस–का प्रतीक बनाकर उपस्थित किया है। उनकी समस्या बाह्य एवं आंतरिक विसामंजस्य की समस्या है। बाह्य सामंजस्य की समस्या परिवेश के साथ सामंजस्य बिठाने से सम्बन्धित है। आरम्भ में परिवेश की भीषणता के कारण वे सामंजस्य बिठाने में असफल होते हैं, तदुपरांत परिवेश के अनुकूल हो जाने पर उसके साथ सामंजस्य बनाये रखने की अक्षमता के कारण जीवन में आनन्द बाधित होता है और अन्ततः इस अक्षमता के परिणाम स्वरूप व्यक्ति के प्रति परिवेश की आक्रामक प्रवृत्ति आनन्दपथ की बाधा बन जाती है। परिवेश और व्यक्ति-मानस के इस तनाव का मूल कारण है व्यक्ति का आंतरिक विघटन जिसमें चेतना के तीनों अवयव—इच्छा, क्रिया, ज्ञान—एक दूसरे का साथ नहीं देते। मानसिक उत्पीड़न का मूल यहीं है। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हो जाएं तो व्यक्तित्व सुसंघटित होकर परिवेश के साथ भी सामंजस्य बिठा सकता है—स्व की संकुचित सीमाओं का विस्तार कर, अपने-पराये के भेद से ऊपर उठकर, समग्र सृष्टि के साथ प्रेममूलक अभेद का मार्ग ग्रहण कर मनुष्य आनन्द को उपलब्ध कर सकता है।

इस मार्ग पर मनु—मन या व्यक्ति-मानस—को ले चलने की शक्ति श्रद्धा में है। श्रद्धा जीवन-ऊर्जा की प्रतीक है। वह जिजीविषा का उदात्त एवं परिष्कृत रूप है।

---

1 कामायनी, आमुख, पृ० ४

वह आत्मविश्वास एवं विश्वास से परिपूर्ण है। वह व्यक्ति को जीवन के प्रति उत्साह प्रदान कर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित रहने के लिए उसे प्रेरित करती है और जगत् के प्रति सेवामय एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार का संदेश देती है। समर्पणशीलता, दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास उसकी देन है। इसी देन के आधार पर वह व्यक्ति और परिवेश में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करती है और उस सामंजस्य के लिए व्यक्ति के आंतरिक विघटन को भी दूर कर उसकी चेतना के तीनों अवयवों इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामंजस्य उत्पन्न करती है। इस प्रकार वह आनन्द के आधार समरसता की वाहिका है। यह काम की पुत्री है—कामायनी है— काम जीवन की मूल चेतना है और श्रद्धा उसके परिष्कृत रूप को प्रतीक है।

श्रद्धा का विकल्प इड़ा है। इड़ा भौतिक बौद्धिकता की प्रतीक है जो उद्योग विज्ञानादि के रूप में भौतिक विकास के द्वारा सुख-समृद्धि की साधक है। उसका उद्देश्य भी जनहित या विश्व का कल्याण है, किन्तु उसका मार्ग संघर्ष का मार्ग है। वह भेदमूलक व्यवस्था की विधात्री है। इसलिए एक ओर वह वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है तो दूसरी ओर वह मन पर अंकुश भी लगाती है। मन उसके शासन को स्वीकार नहीं करता और बलात् उस पर अधिकार करना चाहता है। फलतः अन्तर-विग्रह उत्पन्न होता है। इसलिए इड़ा अभीष्ट-साधन में असफल रहती है। अन्ततः श्रद्धा से सम्पृक्त होने पर वह भी आनन्द लोक तक पहुँच जाती है।

आनन्द की समस्या के उपर्युक्त विश्लेषण के साथ ही उसके लिए मनुष्य की युगयुगीन साधना की कथा कहना भी कामायनीकार का उद्देश्य रहा है। इसी अर्थ में उसने इसे "मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास" कहा है। आदिम युग की घोर अव्यवस्थामयी स्थिति के निरूपण के लिए प्रसाद ने प्रलय की विनाश-कथा के साथ कामायनी प्रारम्भ की है। मृत्यु के तांडव के मध्य जिजीविषा और जीवन की अपरिहार्यता कवि ने उपस्थित की है। मनु और श्रद्धा का विपरीत लिंगीय युग्म उपस्थित कर मानव जाति के विकास की भूमिका कवि ने बाँधी है साथ ही अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से मनोविकारों की अभिव्यक्ति का अवसर भी कवि ने खोजा है। श्रद्धा के प्रति प्रेम के साथ ही आधिपत्य-भावना और आक्रोश का उदय चित्रित कर कवि ने मनोवैज्ञानिक इतिहास की द्वितीय भूमिका उपस्थित की है जिसमें परिवेश

कोमल भावनाओं के साथ ध्वंसात्मक मनोवेगों का चित्रण कवि ने किया है। तृतीय भूमिका में कवि ने सभ्यता के विभिन्न अंगों का विकास दिखलाया है जिसमें आखेट, कृषि और गृह-उद्योगों की ओर कवि ने संकेत किया है। अन्ततः वैज्ञानिक युग की औद्योगिक अवस्था का चित्र कवि ने उपस्थित किया है जिसके वरदान के साथ अभिशाप को भी उसने अपनी आँखों से देखा है।

इस सम्पूर्ण विकास-कथा में वह मनु—व्यक्ति-मानस—की वेदना को अंकित करता आया है। यह वेदना है आनन्द से वंचित होने की, जिसका कारण है आन्तर-बाह्य सामंजस्य का अभाव। श्रद्धा समरसता के मार्ग से इस अभाव को दूर कर बाह्य एवं आन्तरिक सामंजस्य की स्थापना करके मनु—व्यक्ति-मानस—को आनन्द-लोक में ले जाती है—जीवन मे आनन्द की सृष्टि करती है।

———

परिशिष्ट

कामायनी के अनुवर्ती काव्य

कामायनीकार ने आनन्द की समस्या को बड़े व्यापक फलक पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि और गहन चिंतन-शक्ति के साथ बड़ी दृढ़ता से उपस्थित किया है, किन्तु कतिपय विचारकों को प्रसाद का वह प्रतिपादन एकांगी प्रतीत हुआ है। सर्व प्रथम आचार्य शुक्ल ने प्रसाद द्वारा श्रद्धा को अत्यधिक महत्व दिये जाने का प्रतिवाद किया और उन्होंने इड़ा के प्रति कवि के व्यवहार को असहानुभूतिपूर्ण मानते हुए, श्रद्धा के मुख से इड़ा के प्रति जो तिरस्कारपूर्ण (शुक्ल जी के मतानुसार) शब्द कवि द्वारा कहलवाये गये थे—सिर चढ़ी रही पाया न हृदय—उसका प्रतिशोध लेते हुए, इड़ा के मुख से श्रद्धा के प्रति यह कहलवाना चाहा—रस पगी रही पाई न बुद्धि। इस प्रकार कामायनी के जीवन-चिंतन के प्रति एक प्रतिक्रिया यह हुई कि श्रद्धा के स्थान पर इड़ा का पक्ष लिया जाने लगा। हिन्दी कवियों में दिनकर और पंत में यह प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त हुई हैं। दिनकर और पंत दोनों ने समीक्षक के रूप में कामायनी के प्रति असंतोष व्यक्त किया है और कवि के रूप में क्रमशः उर्वशी और लोकायतन लिखकर कामायनी से स्पर्द्धा करने का प्रयत्न किया है।

उर्वशी

कामायनी के समान उर्वशी में भी जीवन की सार्थकता प्रेम-मार्ग के अवलम्बन में बतलाई गई है, किन्तु उर्वशी का प्रेम कामायनी के प्रेम से भिन्न कोटि का है। कामायिनी में प्रेम के उदात्त, व्यापक एवं परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं, उर्वशी में इसके विपरीत यौनपरक, शरीर-प्रधान (मांसल) और संवेदनशील प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। कामायनी की तुलना में उर्वशी का कथा-फलक अत्यन्त संकुचित है—वह वहां मुख्य रूप से नर-नारी सम्बन्ध में सीमित है जबकि कामायनी में यह एक गौण एवं प्रासंगिक विषय है। फिर भी; इस सीमित क्षेत्र में कामायनी के प्रति कवि की प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखलाई देती है।

भूमिका में दिनकर ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है कि उर्वशी और कामायनी के पात्रों में प्रचुरांश में अभिन्नता है—"कहते हैं निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है (डॉ. फतहसिंह)। इस दृष्टि से, मनु और इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी ये दोनों ही कथाएं एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।" इस प्रकार उर्वशी में परोक्षतः कामायनी के पात्रों को ही लिया है और नायिका के

के स्थान पर इड़ा (उर्वशी) को प्रतिष्ठित किया है, किन्तु उर्वशी कामायनी की इड़ा के नियमन-पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करती–यहाँ वह उसकी लौकिकता या पार्थिवता की प्रतीक भर है। वैसे तो वह अप्सरा है, किन्तु "देवलोक से उतरी हुई नारी है। वह सहज, निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है।" कवि की दृष्टि में "पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है; और उर्वशी सनातन नारी की······उर्वशी चक्षु रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं की प्रतीक है; पुरुरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।" दिनकर ने उर्वशी के प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है–"पुरुरवा-उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है; वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का माहात्म्य बताता है।" और इस प्रकार वह कामायनी के विषय को पुनः उठाता है।

अपने प्रतिपाद्य का उपस्थापन करते हुए दिनकर ने उर्वशी को रमणीयता का प्रतीक बनाकर उपस्थित किया है। वैसे तो उर्वशी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की कामनाओं की प्रतीक है, किन्तु विशेष रूप से वह नारी के रमणी-पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। इसी प्रकार उर्वशी की समस्या 'हृदय, कला और निरुद्देश्य आनंद' से सम्बन्धित होती हुई भी विशेष रूप से नर-नारी के कामोपभोगजन्य आनंद से सम्बन्धित है। 'दिनकर' ने जिसे 'हृदय, कला और निरुद्देश्य आनंद की समस्या कहा है वह बहुत अंश में काम पर निर्भर है—"जीवन में सूक्ष्म आनंद और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं।" मनुष्य की काम चेतना जैव धरातल से ऊपर उठी हुई होती है—"पशुओं में जो प्रेरणा ऋतु धर्म से एकाकार है, मनुष्यों में वहीं ऋतु-धर्म का बंधन नहीं मानती, न वह प्रजासृष्टि की सीमा पर समाप्त होती है। कामशक्ति पशु-जगत् में आवश्यकता और उपयोग की सीमा में है। मनुष्य में आकर वह ऐसे आनंद का कारण बन गयी है जो निष्प्रयोजन निस्सीम और निरुद्देश्य है। इस काम की परिव्याप्ति कवि ने जैव धरातल से आत्मा के धरातल तक मानी है–"पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोकों में प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है......आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊपर खींचता है और जैव धरातल का आकर्षण नीचे की ओर है। मनुष्य जब पशुओं से अलग होने लगा तो, यह वेदना तभी से उसके साथ होगयी। मानवता ही मनुष्य की वेदना का उत्तम नाम है।" इस प्रकार "पुरुरवा की वेदना समग्र मानव जाति की वेदना है। इसलिए पुरुरवा को कवि ने जहां द्वन्द्वग्रस्त मानव का प्रतीक माना है, वहीं उर्वशी के द्वारा प्रकृति की सत्यता और महत्ता का प्रतिपादन करवाकर उसने उसके जैव धरातल के महत्त्व की घोषणा करवाई है। काव्य में जिसे कवि ने उर्वशी के मुख से प्रकृति कहलवाया है, भूमिका में उसी का उल्लेख 'सहज प्रवृत्ति' के रूप में

रते हुए लिखा है—"मनुष्य का सर्वोत्तम काव्य, सर्वोच्च दर्शन और विज्ञान के आश्चर्य-
जनक आविष्कार, ये सब के सब, संबुद्धि (इन टुइशन) से संकेतित होते हैं, जो बहुत कुछ
सहज प्रवृत्ति के समान है।......धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है, किन्तु
सार्थकता उसकी तब है जब वह जैव धरातल पर आकर हमारे आचरणों को प्रभावित
करे।"

जैव धरातल, सहज-प्रवृत्ति या प्रकृति की महत्ता का प्रतिपादन कवि ने 'उर्वशी' के तृतीय अंक में किया है जहाँ पुरुरवा को द्वन्द्व-ग्रस्त दिखलाया है—

हाय तृषा फिर वही तरंगों में गाहन करने की !
वही लोभ चेतना-सिंधु के अपर पार जाने का
झम्प मार तन की प्रतप्त, उफनाती हुई लहर में ?
ठहर सकेगा कभी नहीं क्या प्रणय शून्य अम्बर पर ?

विविध सुरों में छेड़ तुम्हारी तंत्री के तारों को
बिठा बिठा कर विविध भांति रंगों में, रेखाओं में,
कभी उष्ण उर-कंप; कभी मानस के शीत मुकुर में
बहुत पढ़ा मैंने अनेक लोकों में तुम्हें जगाकर
पर, इन सब से खुली पूर्ण तुम ? या जो देख रहा हूँ
मायाविनि ! वह बद्ध मुकुल है, महासिंधु का तट है ?

कहां उच्च वह शिखर, कला का जिस पर कभी निलय था ?
और कहां यह तृषा ग्राम्य नीचे आकर बहने की
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में ?
भ्रांत स्वयं या जान बूझ कर मुझ को भ्रमा रही हो ?

इसके उत्तर में उर्वशी के मुख से जैव धरातल पर काम की महत्ता प्रतिष्ठित करवाई गई है। इसके लिए ईश्वर की समकक्षता में प्रकृति उपस्थित की गई है जो सहजप्रवृत्ति और जैव धरातल की वाचक है—

भ्रांति नहीं, अनुभूति; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है।

× × ×

ईश्वरी जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से;
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।
माया कह क्यों मृषा मेटते हो अस्तित्व प्रकृति का ?

× × ×

शिखरों में जो मौन, वही झरनों में गरज रहा है,
ऊपर जिसकी ज्योति, छिपा है वही गर्त के तम में।
तब किस भय से भाग रहे नीचे की तिमिर पुरी से ?
शिखरों पर का कौन लोभ ऊपर को खींच रहा है ?
अंधा हो जाता मनुष्य रवि की भी प्रखर प्रभा से
और किसी को अंधियाले में भी सब कुछ दिखता है।

इन शब्दों में कामायनी की प्रतिक्रिया का संकेत दिखलाई देता है। कामायनी के अंत में मनु कैलाश के शिखर पर पहुंच जाते हैं इस घटना से मन का उन्नयन सूचित होता है, किन्तु दिनकर की उर्वशी के मत से यह नीचे की तिमिरपुरी से पलायन है जो शिखरों पर जाने का लोभ जगाता है। दिनकर की दृष्टि में यह तिमिरपुरी ही काम्य है जबकि कामायनी में यह काम का अभिशप्त रूप है। इसकी भर्त्सना करते हुए कामायनी का काम कहता है—

पर तुमने तो पायी सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह-मात्र
सौन्दर्य जलधि से भरलाये केवल तुम अपना गरल पात्र

इसके विपरीत दिनकर का निष्कर्ष है—

जो भी हैं अवसर निसर्ग के, ईश्वर के भी क्षण हैं;
धर्म-साधना कहीं प्रकृति से भिन्न नहीं चलती है।
दृश्य-अदृश्य एक हैं दोनों, प्रकृति और ईश्वर में
भेद गुणों का नहीं, भेद है मात्र दृष्टि का, मन का।
और यहां यह काम-धर्म ही उज्ज्वल उदाहरण है।

काम-धर्म के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।

काम के जैव और आत्मिक धरातल-विषयक द्वन्द्व को उठाते हुए कवि ने उसका विस्तार स्वकीया और परकीया के द्वन्द्व तक किया है। परकीया के रूप में उर्वशी को उपस्थित करते हुए कवि ने उसमें रमणीयता केन्द्रित की है। कवि की दृष्टि में स्वकीया के प्रति पुरुष का आकर्षण अधिक समय तक नहीं ठहरता क्योंकि वह एक ही बार में पुरुष को अपना सब कुछ दे डालती है—

गृहिणी जाती हार दांव सम्पूर्ण समर्पण करके,
जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष में भरके।

कारण यह है कि—

नयी सिद्धि हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर
नया स्वाद, नव जय, नित नूतन हर्ष चाहता है नर।

इसलिए गृहस्थ नारी का मार्ग कठिन है। सुकन्या औशिनरी को समझाती हुई कहती है—

इसीलिए, दायित्व गहन, दुस्तर गृहस्थ नारी का
क्षण-क्षण सजग, अनिद्र दृष्टि से देखना उसे होता है
अभी कहां है व्यथा? समर से लौटे हुए पुरुष को
कहाँ लगी है प्यास, प्राण में कांटे कहाँ चुभे हैं?

इस प्रकार उर्वशी में नरनारी सम्बन्धों को उनके यथार्थ धरातल पर उपस्थित किया गया है। नारी के रमणीत्व का कवि सम्मान करता है—उसका वह रूप उसे प्रिय है। इसके विपरीत स्वकीया का प्रेम, जो एक बार में ही चुक जाता है, नित्य नूतनता के अभिलाषी को तोष नहीं दे पाता। अतएव रमणीत्व को कवि परकीया में खोजता है और उर्वशी जैसी अप्सरा को उसका प्रतीक बनाता है जिसके माध्यम से वह जैव धरातल पर काम को प्रतिष्ठित कर सका है।

नारी के इस भोग-पक्ष से संलग्न एक और पक्ष है। रमण की चरम परिणति प्रजा-सृष्टि में होती है और तब रमणीत्व का पर्यवसान मातृत्व में होता है। इस दृष्टि से नारी वहीं तक रमणी रहती है जहाँ तक वह माता नहीं बनती। जैसे ही वह माता बनती है, रमणी नहीं रह जाती। प्रसाद ने 'कामायनी' में नारी के रमणीत्व और मातृत्व का यह द्वन्द्व उठाया है श्रद्धा में जैसे ही मातृत्व का उदय होता है, मनु के लिए वह रमणी (प) नहीं रह जाती। उर्वशी में भी दिनकर ने रमणीत्व और मातृत्व के इस द्वन्द्व की चर्चा अप्सराओं से करवाई है। अप्सराएँ उर्वशी और पुरुरवा के प्रेमोदय की

नहीं कर सका है—संभवत: वह दोनों के मध्य समझौते की सम्भावना नहीं मानता। संभावना न मानता हो तो न सही, अपनी ओर से निष्कर्ष तो उसे देना ही चाहिए था—भले ही वह यही निष्कर्ष देता कि रमणीत्व चिरस्थायी नहीं है—वह मातृत्व से आक्रान्त होते ही लुप्त हो जाता है।

उर्वशी की कथा में इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए संकेत हैं—उर्वशी को भरत मुनि का यह शाप था कि वह पुरुरवा के पास तभी तक रह सकेगी जब तक उसका पति पुत्र का मुख नहीं देखेगा। जैसे ही पुरुरवा पुत्र का मुख देखता है उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है—मातृत्व का उदय होते ही रमणीत्व लुप्त हो जाता है; किन्तु यह कथा की मेरी व्याख्या है, दिनकर की नहीं। दिनकर ने कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं छोड़ा है जिससे शाप का यह अर्थ किया जा सके। कवि ने शाप को रूढ़िगत अर्थ में लिया है और अलौकिक स्तर पर उसका निर्वाह अपने काव्य में दिखलाया है। यदि कवि ने भरत-शाप की बुद्धिसंगत व्याख्या की होती तो वह उस समस्या को निष्कर्ष तक पहुंचा सकता था जिससे उसने अपनी इस स्पंदनमयी कृति को संघर्ष प्रदान किया है।

वस्तुत: शाप के इस प्रकार के समावेश ने उर्वशी का अन्त विरूप कर दिया है। उर्वशी में प्रारम्भ से ही शृंगार का जो उद्वेलन है, रमणीत्व की जो प्राणमयी प्रतिष्ठा है—उसका अन्त बड़े अजीब ढंग से होता है। शापवश उर्वशी को पुरुरवा से वियुक्त होना पड़ता है और बड़े अस्वाभाविक ढंग से पुरुरवा को संन्यास लेना पड़ता है। अन्तरात्मा को पुकार पर पुरुरवा इन्द्र से उर्वशी छीनने का संकल्प छोड़कर संन्यास लेना स्वीकार करता है! लगता है कि जिस काव्यात्मक स्तर पर दिनकर ने रमणीत्व, मातृत्व, परकीया-स्वकीया और जैव—आत्मिक काम-धरातल का द्वन्द्व उर्वशी में उठाया है उसके उपयुक्त अन्त उन्हें नहीं सूझा है—इसलिए शाप और अन्तरात्मा की पुकार का सहारा उन्हें लेना पड़ा है। जिस समस्या को बड़े जीवन्त रूप में कवि ने उठाया है उसके समाधान में वह असमर्थ रहा है—इसलिए भूमिका में उसने कह दिया है—"प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं।" शायद दिनकर की यह बात सही हो, फिर भी काव्य मे उठाई गई समस्या का अन्त-पर्यन्त निर्वाह तो कवि ही करता है—इसके दायित्व को कवि अस्वीकार नहीं कर सकता। दिनकर से शिकायत यही है कि वे समस्या को अन्त तक ठीक से नहीं ले जा सके हे। उस रमणीत्व के प्रतिपादन की सार्थकता क्या है जिसका अन्त इस अलौकिक रूप से कवि स्वीकार करता है? काम के जिस उद्वेलन को कवि ने उठाया है, उर्वशी का अन्त एकदम उसके प्रतिकूल है—एण्टी क्लाइमेक्स है। विक्रमोर्वशीय का जैसा अन्त उचित हो सकता था।

उर्वशी आपरतत: छन्द-नाट्य प्रतीत होता है, किन्तु दिनकर अपने सामाजिकों (संभावित दर्शकों) को अधिकांशत: उर्वशी-पुरुरवा की कथा सुनवाता रहा है। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ अंक के अधिकांश में पात्र मंच पर आते ही नहीं। कथा सूच्य रूप में

चर्चा करती हुई ऊर्वशी के संभावित मातृत्व का विचार करती है। सहजन्या नाम। अप्सरा उर्वशी के मातृत्व को उसके रमणीत्व का विघातक मानते हुए कहती है—

गर्भभार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी ?
यह शोभा, यह गठन देह की, यह प्रकांति खोयेगी ?
जो अयोनिजा स्वयं, वही योनिज संतान जनेगी ?
यह सुरम्य सौरभ की कोमल प्रतिमा जननि बनेगी ?
किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण ?
वह भी और नहीं कुछ, केवल एक प्रेम के कारण ?

रंभा भी इसी प्रकार की बात कहती है—

पुत्रवती होंगी, शिशु को गोदी में हलरायेंगी,
मदिर तान को छोड़ साँझ से ही लोरी गायेंगी।
पहिनेंगी कंचुकी चीर से क्षण-क्षण गीली-गीली,
नेह लगायेंगी मनुष्य से, देह करेंगी ढीली!

इसके विपरीत मेनका मातृत्व के गौरव का प्रतिपादन करती है—

पर, रंभे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है ?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

युवा जननि को देख शांति कैसी मन में जगती है !
रूपमती भी सखी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है।
जो गोदी में लिये क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।

इस प्रकार कामायनी में जो संकेतित है उर्वशी में दिनकर ने उसे मुखर बना कर उपस्थित किया है। कामोपभोग मातृत्व की समस्या से विलग नहीं रह सकता—इसलिए दिनकर ने नारी के रमणीत्व की प्रतिष्ठा करते हुए उसे यहाँ उपस्थित करना आवश्यक समझा है और रमणीत्व में उसे विघातक मानते हुए भी उसके गौरव की रक्षा का प्रयत्न किया है, किन्तु कवि रमणीत्व और मातृत्व के मध्य सेतु का निर्माण

नहीं कर सका है—संभवतः वह दोनों के मध्य समझौते की सम्भावना नहीं मानता। संभावना न मानता हो तो न सही, अपनी ओर से निष्कर्ष तो उसे देना ही चाहिए था—भले ही वह यही निष्कर्ष देता कि रमणीत्व चिरस्थायी नहीं है—वह मातृत्व से आक्रान्त होते ही लुप्त हो जाता है।

उर्वशी की कथा में इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए संकेत हैं—उर्वशी को भरत मुनि का यह शाप था कि वह पुरुरवा के पास तभी तक रह सकेगी जब तक उसका पति पुत्र का मुख नहीं देखेगा। जैसे ही पुरुरवा पुत्र का मुख देखता है उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है—मातृत्व का उदय होते ही रमणीत्व लुप्त हो जाता है; किन्तु यह कथा की मेरी व्याख्या है, दिनकर की नहीं। दिनकर ने कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं छोड़ा है जिससे शाप का यह अर्थ किया जा सके। कवि ने शाप को रूढ़िगत अर्थ में लिया है और अलौकिक स्तर पर उसका निर्वाह अपने काव्य में दिखलाया है। यदि कवि ने भरत-शाप की बुद्धिसंगत व्याख्या की होती तो वह उस समस्या को निष्कर्ष तक पहुंचा सकता था जिससे उसने अपनी इस स्पंदनमयी कृति को संघर्ष प्रदान किया है।

वस्तुतः शाप के इस प्रकार के समावेश ने उर्वशी का अन्त विरूप कर दिया है। उर्वशी में आरम्भ से ही शृंगार का जो उद्वेलन है, रमणीत्व की जो प्राणमयी प्रतिष्ठा है—उसका अन्त बड़े अजीब ढंग से होता है। शापवश उर्वशी को पुरुरवा से वियुक्त होना पड़ता है और बड़े अस्वाभाविक ढंग से पुरुरवा को संन्यास लेना पड़ता है। अन्तरात्मा की पुकार पर पुरुरवा इन्द्र से उर्वशी छीनने का संकल्प छोड़कर संन्यास लेना स्वीकार करता है! लगता है कि जिस काव्यात्मक स्तर पर दिनकर ने रमणीत्व, मातृत्व, परकीया-स्वकीया और जैव-आत्मिक काम-परातल का द्वन्द्व उर्वशी में उठाया है उसके उपयुक्त अन्त उन्हें नहीं सूझा है—इसलिए शाप और अन्तरात्मा की पुकार का सहारा उन्हें लेना पड़ा है। जिस समस्या को बड़े जीवन्त रूप में कवि ने उठाया है उसके समाधान में वह असमर्थ रहा है—इसलिए भूमिका में उसने कह दिया है—"प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते है।" शायद दिनकर की यह बात सही हो, फिर भी काव्य में उठाई गई समस्या का अन्त-पर्यन्त निर्वाह तो कवि ही करता है—इसके दायित्व को कवि अस्वीकार नहीं कर सकता। दिनकर से शिकायत यही है कि वे समस्या को अन्त तक ठीक से नहीं ले जा सके हैं। उस रमणीत्व के प्रतिपादन की सार्थकता क्या है जिसका अन्त इस अलौकिक रूप से कवि स्वीकार करता है? काम के जिस उद्वेलन को कवि ने उठाया है, उर्वशी का अन्त एकदम उसके प्रतिकूल है—एण्टी क्लाइमेक्स है। विक्रमोर्वशीय का जैसा अन्त उचित हो सकता था।

उर्वशी मापरततः छद्म-नाट्य प्रतीत होता है, किन्तु दिनकर अपने सामाजिकों (संभावित दर्शकों) को अधिकांशतः उर्वशी-पुरुरवा की कथा सुनवाता रहा है। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ अंक के अधिकांश में पात्र मंच पर आते ही नहीं। कथा सूच्य रूप में

चलती है-दृश्य रूप में नहीं। इन अंकों में कार्य (action) का एकांत अभाव है-रूप कथन मात्र है। यह दोष तृतीय अंक में भी है जहां पुरुरवा-उर्वशी मंच पर तो आते हैं, किन्तु सैद्धांतिक चर्चा में ही लगे रहते हैं-कुछ करते-धरते नहीं हैं। पंचम अंक में कथा दृश्य रूप में भी है और कार्य-सम्पन्न भी। इस नाते वहां नाटकीय प्रभाव की सृष्टि होती है, किन्तु वहां उसके कवित्व की छटा एएटी क्लाइमैक्स होने से बिखर जाती है।

फिर भी उर्वशी में ऐसा कुछ है जिसमें डूबकर पाठक इस बात को चिंता छोड़ देता है कि नाट्य-तत्त्व की दृष्टि से रंगमंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से-यह कहां तक सफल है। उर्वशी में कोई ऐसा मोहक तत्त्व है जो पाठक के मन में यह आग्रह उत्पन्न करता है कि उर्वशी की परीक्षा नाट्य-तत्त्व की दृष्टि से नहीं की जाए। हिन्दी-पाठक रंगमंच पर उर्वशी की प्रस्तारणा की कामना नहीं करता, वह उसे बार-बार पढ़ जाना चाहता है। वह उसकी उक्तियों का रस लेता है-उसके कार्य-व्यापार अथवा संघर्ष में अन्तर्निहित ईहा का नहीं। इस का रहस्य यह है कि उर्वशी छंद-नाट्य नहीं है, नाट्य कविता है। वस्तुतः यह उस कोटि की रचना है जिसके सम्बन्ध में एंडरू मेथ्यूज् ने लिखा है-"वह तो केवल कथोपकथन में पिरोयी गई कविता है, जो अभिनेताओं के द्वारा दर्शकों के सम्मुख रंगमंच पर प्रस्तुत ही नहीं हो सकती, और जब तक इस प्रकार का नाटक "पद्य-नाटक" होने का दावा नहीं करता तब तक उस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, लेकिन हमें आपत्ति तब होती है जब नाट्य कविता पद्य नाटक का स्थान लेने और उसी के समान सम्मान प्राप्त करने की कोशिश करती है।" दिनकर ने उर्वशी को कहीं पद्य-नाटक, गीति-नाट्य या छंद नाट्य नहीं कहा है। उसमें अंक-विभाजन और संवाद-योजना देखकर उसकी नाटकीयता की जो भ्रांति उत्पन्न होती है, वह वस्तुतः नाटक का आभास भर है, अन्यथा उसकी समस्त चेतना कविता की है। इस आभास को स्वीकार करते हुए उसे नाट्य-कविता मानने में आपत्ति की कोई बात दिखलाई नहीं देता।

"उर्वशी की कविता उसकी एक-एक पंक्ति से प्रस्फुटित होती है। इस कृति में आदि से अन्त तक एक वेग बना रहता है जिसमें भावनाओं की सांवेगिक अभिव्यक्ति पाठक को अपने में डुबोए रखती है। यह सच है कि इससे शृंगार का कोमल पक्ष कुछ दबा है, किन्तु उसके वेगमय प्रवाह में एक ऐसी प्रखरता है जो पाठक के अन्तर को भेदती चली जाती है। कामावेग की ऐन्द्रिय अनिवार्यता इसीलिए इसमें सशक्त रूप में उभर सकी है, उदाहरण के लिए उर्वशी की निम्नलिखित उक्ति अपने वेग के माध्यम से उसकी सांवेगिकता की अभिव्यक्ति में समर्थ हुई है—

लगता है कोई शोणित में स्वर्ण तरी खेता है।
रह-रह मुझे उठा अपनी बाहों में भर लेता है।
\+ \+ \+

यही चाहती हूं कि गंध को तन हो, उसे धरूं मैं,
उड़ते हुए अदेह स्वप्न को बांहों में जकड़ूँ मैं।
निराकार मन की उमंग को रूप कहीं दे पाऊँ
फूटे तन की आग और मैं उसमें डूब नहाऊँ

इस वेग का साथ कवि की मूर्तता-विधायिनी बिम्ब-योजना ने दिया है जिसके अभाव में यह वेग कोलाहल मात्र रह सकता था। कवि की मूर्त कल्पना-शक्ति का साक्षात्कार भाव, विचार और प्रतीक तीनों स्तरों पर होता है।

जहां किसी भाव को आकार देना कवि को अभीष्ट हुआ है वहां वह उसके अनुभावों और सात्विक भावों को इस प्रकार संजो गया है कि उससे जिस समग्र आकृति या गेस्टाल्ट की रचना हुई है उसमें अपूर्व व्यंजना-शक्ति आगई है। प्रणय की पीड़ा को व्यंजित करता हुआ कवि लिखता है—

इसमें क्या विस्मय है!
कहते हैं, धरती पर सब रोगों से कठिन प्रणय है!
लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है।
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।
मन खोया-खोया, आंखें कुछ भरी-भरी रहती हैं।
भीगी पुतली में कोई तस्वीर खड़ी रहती है
सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
तन से जगी, स्वप्न के कुंजों में मन से सोयी-सी!
खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती हुई कुसुम पंखड़ियां!
किसी ध्यान में पड़ी गँवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ।
दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नहीं होता है।
आया-गया कौन, इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।
मुख सरोज मुसकान बिना आभा-विहीन लगता है,
भुवन मोहिनी श्री का चन्द्रानन मलीन लगता है।
सुनकर जिनकी झमक स्वर्ग की तन्द्रा फट जाती थी,
योगी की साधना, सिद्ध की नींद उचट जाती थी,
वे नूपुर भी मौन पड़े हैं, निरानंद सुरपुर है।
देवसभा में लहर लास्य की अब वह नहीं मधुर है।

जहां किसी विचार या सिद्धान्त का उपस्थापन कवि ने करना चाहा है, वहां उसने सीधे कथन के स्थान पर मूर्त बिम्बों—प्रतीकों और उपमानों—के संगुम्फन से एक गतिमय आकृति की सृष्टि कर वचन-भंगिमा का वह कौशल उपस्थित किया है जिससे उसकी उक्तियों में वक्रता का बल आगया है और उसके परिणाम स्वरूप उन पंक्तियों की मूर्तता प्राणवान बन गई है। उदाहरण के लिए देवताओं की तुलना में मनुष्य की उत्कृष्टता स्थापित करते हुए दिनकर ने लिखा है—

मर्त्य नर को देवता कहना मृषा है,
देवता शीतल मनुज अंगार है।
देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं
किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है!
घूर्णियां चिनगारियों की नाचतीं हैं,
नाचते उड़कर दहन के खंड पत्तों से हवा में
मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है।

जो कवि प्रतीकों के माध्यम से अपना प्रतिपाद्य उपस्थित करता है उसके समक्ष प्रतीकार्थ की अभिव्यंजना की समस्या आती है। ऐसा कवि दो रूपों में इस समस्या को हल करने का मार्ग खोजता है—(१) या तो वह प्रतीक-पात्र का व्यक्तित्व-गठन इस प्रकार करता है कि उसके चरित्र से उससे प्रतीकार्थ का संकेत निरंतर मिलता रहे; या (२) वह पात्र के अपने मुख से या किसी अन्य पात्र के मुख से उस पात्र का परिचय दिलाते समय उसके प्रतीकार्थ का आख्यान करवा दे। कामायनी में प्रसाद ने प्रथम मार्ग अपनाया है और उर्वशी में दिनकर ने द्वितीय मार्ग। द्वितीय मार्ग अपेक्षाकृत कठिन हैं क्योंकि इसमें कवित्व के स्तर से गिरने की आशंका अधिक है—ऐसा करते समय कवि कहीं भी कवि से व्याख्याकार बन सकता है और तब उसकी उक्तियां नीरस टीकाओं के स्तर पर भटक सकती हैं। दिनकर ने ऐसा नहीं होने दिया है। उर्वशी अपना जो परिचय देती है उसमें उसके प्रतीकार्थ की प्रचुर व्याख्या है, फिर भी उसमें निरंतर वक्रतापूर्ण वचन-भंगिमा के साथ अप्रस्तुतों का मूर्त संयोजन ऐसा किया गया है जिसमें मूर्तता की असाधारण क्षमता है। उर्वशी सर्व प्रथम अपने को प्रकृति अथवा सहज प्रवृत्ति की प्रतीक मानती हुई अपनी व्यापकता की जो चर्चा करती है वह बड़ी वेगमय और प्राणवान है—

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था
कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मैं न रहूँगी?
कौन पुरुष, जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है?
कौन त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में?

कौन लोक, कौंधती नहीं मेरी ह्लादिनी जहां पर ?
कौन मेघ, जिसको न सेज में अपनी बना चुकी हूँ ?
कहूँ कौन सी बात और रहने दूं कथा कहाँ की ?
मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,
उसी भांति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है !

और इसके आगे वह इस सामान्य प्रकृति तत्त्व में किंचित् विशिष्टता का समावेश करती हुई उसका सम्बन्ध मानसिक हलचल से जोड़ती हुई उसे अवचेतन की सहज प्रवृत्तियों तक ले जाती है, फिर भी उसकी मूर्तता में व्याघात होने देती—

मैं मनोदेश की वायु व्यग्र, व्याकुल, चंचल;
अवचेत प्राण की प्रभा, चेतना के जल में
मैं रूप-रंग-रस-गंध-पूर्ण साकार कमल।

और तब वह आनंद-वृत्ति में अपना समाहार करती हुई सौन्दर्य-चेतना के रूप में अपने को उपस्थित करती है—

मैं नाम-गोत्र से रहित पुष्प
अम्बर में उड़ती हुई मुक्त आनंदाशिखा
इतिवृत्त हीन,
सौन्दर्य-चेतना की तरंग;
सुर-नर-किन्नर गंधर्व नहीं,
प्रिय मैं केवल अप्सरा
विश्व-नर के अतृप्त इच्छा-सागर से समुद्भूत

आनंदवृत्ति के भीतर वह कोमल-कमनीय कल्पना के रूप में अपना परिचय देती है—

कल्पना-लोक से उतर भूमि पर आती हूँ

इस कमनीयता का समाहार अंततः स्त्री के प्रति पुरुष के अनुराग में होता है और स्त्री-पुरुष के इस युग्म में स्त्री की समस्त कमनीयता एवं सुकुमारिता की कल्पना का प्रतिनिधान वह करती है—

नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।
विषधर के फण पर अमृत वर्ति
उद्धत, अदम्य, बर्बर बल पर
रूपांकुश, अदम्य मृणाल-तार।

जीवन का यह कोमल पक्ष सभी कलाओं में अभिव्यक्त सौन्दर्य-चेतना का स्रोत है। इस नाते उर्वशी समस्त कलाओं की मूल चेतना की प्रतीक भी है। इस पक्ष का उपस्थापन वह विविध कलाओं की सौन्दर्य-रचना से अपना सम्बन्ध दिखलाते हुए करती है—

मैं कला-चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत
रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार,
भंगिमा, तरंगित वर्तुलता, वीचियाँ, लहर
तन की प्रकांति रंगों में लिये उतरती हूँ
पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छाँट
मैं ही निबिडस्तना, मुष्टिमध्यमा
मदिरलोचना, कामललिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग
तोड़तम को उन्मत्त उभरती हूँ।
भू-नभ सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक-विजय का है।

रूप-वर्णन में भी दिनकर ने असाधारण कवित्व का परिचय दिया है। रूप वर्णन की दोनों विधियों-प्रभाव-व्यंजना और रूप-चित्रण के सादृश्य-विधान में विशिष्टता-बोध को उभारने के लिए सशक्त अप्रस्तुतों और अद्वितीय गुणों का समवेत उपयोग किय। है। उर्वशी के सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना के लिए कवि ने उसके प्रभाव का उल्लेख इतने कोणों से किया है कि यह स्थल उल्लेख अलंकार के चमत्कार का एक जीवन्त उदाहरण बन गया है और यहाँ इस का प्रयोग इस कौशल के साथ हुआ है कि अलकार्य और अलंकरण के भेद की प्रतीति ही नहीं होती; जो चीज सामने आती है, वह है उर्वशी के सौन्दर्य के अलौकिक प्रभाव की व्यंजना—

सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगानेवाली,
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली

रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की,

इसी प्रकार उसके रूप की प्रतीति के लिए कवि ने जो अप्रस्तुत चुने हैं उनको संदेह अलंकार में इस प्रकार संयोजित किया है कि उसकी रूप--श्री साकार हो उठी है—

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से,
लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
या कि स्वयं चांदनी स्वर्ण प्रतिमा में आन ढली हो,
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की,
उदित हुई हो या कि समन्वित नारी-श्री त्रिभुवन की।
कुसुम-कलेवर में प्रदीप्त आभा ज्वालामय मन की,
चमक रही थी नग्न कांति वसनों से छनकर तन की।
हिमकण-सिक्त कुसुम सम उज्ज्वल अंग-अंग झलमल था,
मानो, अभी अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।

इस दृष्टि से उर्वशी इस दशक की महान उपलब्धि है। इसमें नर-नारी संबंध का यथार्थ-धरातल पर अत्यन्त कवित्वपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इस कृति में दिनकर की पात्र-कल्पना जिस चिन्तन की वाहक है, उसका साथ उनकी प्रतीक-योजना, अप्रस्तुत-विधान और बिम्बात्मकता एवं उक्ति-वक्रता ने पूरी तरह दिया है। यही कारण है कि काव्य के हर स्तर पर--भाव, विचार, रूप-वर्णन और उक्ति-सौन्दर्य के स्तर पर एक-एक पंक्ति में पाठक को मोहित करने की क्षमता है। इसलिए यह मानना होगा कि नाट्य-विधान की दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी उर्वशी एक अत्यन्त प्रभावशाली काव्य-कृति है।

लोकायतन

पंत ने लोकायतन को 'लोकजीवन का महाकाव्य' कहा है। यह देख लेना आवश्यक है कि लोक-जीवन से पंत का क्या अभिप्राय है ? लोक-जीवन से आपाततः उस कोटि के जीवन का बोध होता है जिसे अंग्रेजी में folk life कहते हैं, किन्तु पंत ने इसे भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया है। पंतजी का अभिप्राय समष्टि-जीवन से है। लोक शब्द के उन्होंने उसके मूल अर्थ-समष्टि-के पर्याय के रूप में ही ग्रहण किया है--folk वाले आदिमता-व्यंजक अर्थ में नहीं।

तब यह प्रश्न सामने आता है कि समष्टि जीवन की परिधि क्या है ? समष्टि-जीवन किसी अंचल, प्रदेश, देश, महाद्वीप अथवा विश्वभर का हो सकता है। इनमें से

कौन-सी परिधि पंत ने अपनी इस कृति के लिए चुनी है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि पंत की यह रचना तीन स्तरों पर लोक-जीवन को लेकर चली है- ग्राम, देश और विश्व। कथा का जो क्षीण, विच्छिन्न और प्रच्छन्न सूत्र इस रचना में रहा है उसका सम्बन्ध सुन्दरपुर नामक एक असुन्दर ग्राम से है—

घोर असुन्दर था सुन्दरपुर
दैन्य अविद्या का जड़ पंजर

यह सुन्दरपुर एक ओर समसामयिक भू (समस्त संसार) का प्रतीक है—

सुन्दरपुर क्या था युग भू थी
महात्रास का छाया दिग्भ्रम

दूसरी ओर यह व्यक्ति-मानस की ह्रासमयी प्रवृत्तियों के अधिष्ठान का प्रतीक है—

मुझको लगता यह सुन्दरपुर
मेरे ही मानस का खण्डहर

इस सुन्दरपुर को कवि ने लोकायतन के आरम्भ में भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के चित्रण का केन्द्र बनाया है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि कवि ने सुन्दरपुर को भारतीय ग्राम-जीवन के प्रतीक-रूप में उपस्थित किया है। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम का चित्रण करते हुए कवि ने यहां उसे भी प्रतीकात्मक बनाने का प्रयत्न किया है—

भारतीय युद्ध स्वातन्त्र्य था
मनुष्यत्व का भू पर युग रण,
अन्तः रिक्त, बहिः समृद्ध जग
हिंसा स्पर्द्धा का था प्रांगण।

इस प्रकार कवि ने यह इंगित किया है कि लोकायतन में सुन्दरपुर या भारत की कथा बहाना मात्र है, उसके व्याज से ह्रासोन्मुख मानवता के पुनरुद्धार की कथा कहना ही उसका लक्ष्य है। यह बात कवि के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाती है-"यदि मेरा कवि-प्रयास इस संक्रांति काल की युग-गाथा के भीतर से विकासकामी मानवता के जीवन-सत्य की झांकी प्रस्तुत कर सका तो मैं अपने सृजन-श्रम को सफल समझूंगा।" (ज्ञातव्य) इस प्रकार सचमुच पंतजी ने अपने ऊपर बहुत बड़ा दायित्व ले लिया, जिसकी तमन्ना उनके मन में शायद तभी से थी जब उन्होंने 'यदि मैं कामायनी लिखता' शीर्षक लेख लिखा था। पंतजी को 'प्रसाद' से स्पर्द्धा हुई और प्रसाद मनु की कथा के माध्यम से मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास अथवा परिवेश के साथ व्यक्ति के निरंतर संघर्ष की

वेदना का जो उपचार कामायनी के रूप में दे गये, पंत संभवतः उससे भिन्न-उससे बड़ी कोई बात कहने की महत्त्वाकांक्षा का संवरण नहीं कर पाये। 'प्रसाद' के प्रति पंत की यह स्पर्द्धा 'लोकायतन' में अव्यक्त नहीं रही है—विशेषकर तब जब कवि ने प्रसाद के जीवन-दर्शन का स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। लोकायतन के प्रारंभ में ही कवि ने प्रसाद द्वारा निर्दिष्ट समाधान के प्रति असंतोष व्यक्त किया है—

कैसे कह दूँ इड़ा-लुब्ध युग-मनु से
श्रद्धा संग वह करे मेरु नग आरोहण,
आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थित को
जनभू पथ पर करना सक्रिय विचरण!

लोकायतन के अन्त की ओर जाते-जाते कवि ने पुनः एक बार कामायनी के प्रति अपना असंतोष दोहरा दिया है—

"समरस स्थिति में ही अटका ऊर्ध्व
संभव न बहिर्मुख विश्व प्रगति,
बहु रस वैचित्र्यों के भीतर
मानव-जीवन की सत् परिणति!"

इस प्रकार पंत ने अपने लिये एक बड़ा ध्येय चुना है-मानवता के पुनरुद्धार के लिए ऐसा मार्ग बतलाना जो प्रसाद द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से भिन्न और अधिक श्रेयस्कर हो।

पंतजी ने मानवता के लिए श्रेयस्कर मार्ग खोजते समय जिन समस्याओं को दृष्टि-पथ में रखा है वे कामायनी की समस्या से बहुत भिन्न हैं। कामायनी की समस्या व्यक्ति और परिवेश के सामंजस्य की समस्या है जबकि 'लोकायतन' की समस्याएं भौतिक-आध्यात्मिक, पुरातन-नूतन, नैतिकता और इन्द्रिय-भोग, स्वार्थ और प्रेम, अवचेतन और ऊर्ध्व चेतन के संघर्ष से सम्बन्धित हैं। इसलिए लोकायतन और कामायनी में उद्देश्य साम्य होते हुए भी प्रतिपादन का भारी अन्तर है। कामायनी जहां निश्चित लक्ष्य की ओर निश्चित मार्ग से बढ़ी है वहीं लोकायतन अंधेरे में मार्ग टटोलता रहा है। कामायनी के मनु का बार-बार स्खलन भी एक सुनियोजित क्रम से सम्बद्ध है जबकि लोकायतन की कथा ऊर्ध्व चेतन और अवचेतन के द्वन्द्व के समानान्तर अस्तित्व का बखान मात्र करती रही है। 'लोकायतन' में मानवता के विकास मार्ग और उसकी बाधाओं का कोई क्रम दिखलाई नहीं देता। कभी कवि भुखमरी की समस्या से विचलित दिखलाई देता है तो कभी अज्ञान से क्षुब्ध, कभी साम्राज्यवादिता से परेशान है तो कभी व्यक्तिवादिता से, कभी आध्यात्मिकता की खिल्ली उड़ाता है तो कभी नैतिकता का प्रबल प्रतिवाद करता है, कभी गत युग को जड़ संस्कारों का युग कहता है तो कभी

उपनिषदों से वाक्य के वाक्य अनुवाद करके अपनी कृति में रख देता है। यह सब बड़े ही विशृंखल रूप में लोकायतन में उपस्थित किया गया है, इसमें कहीं क्रम या तारतम्य नहीं है, फलतः पंत का यह तथाकथित महाकाव्य एक धुरीविहीन रचना के रूप में हमारे सामने आता है।

आदि से अन्त तक यह रचना नारेबाजी से भरी है जिसमें परिवार-नियोजन से लेकर सामूहिक जीवन का आह्वान तक मिलता है। जिन मूल्यों पर पंत ने विशेष बल दिया है वे हैं-अन्तर्मुखता, नैतिक निरपेक्षता, सामूहिकता, विश्वैक्य, भौतिकता-आध्यात्मिकता का समन्वय आदि।

लोकायतन के उत्तरार्द्ध में नैतिकता के प्रति कवि की प्रबल प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। कवि राग या प्रेम को केवल आन्तरिक या मानसिक स्तर पर स्वीकार नहीं करता; वह इन्द्रिय भोग को उसका अनिवार्य अंग मानता है। कवि के विचार से जो दर्शन इन्द्रिय सुख का निषेध कर केवल मानसिक या आत्मिक धरातल पर प्रेम का प्रतिपादन करता है वह जीवन-तत्व का घातक है क्योंकि इन्द्रिय भोग रति का जीवन्त तत्व है—

इन्द्रिय जीवन से वंचित करना
आध्यात्मिकता को अनिष्ट भीषण,
ईश्वर के, जग के, जीवन के प्रति
महापाप यह-पीड़ित गत भू मन !

इसलिए कवि ने नव मानवता के प्रतीक अतुल को (जो कामायनी के कुमार का समकक्ष है) जारज बतलाया है। इसके साथ ही कवि ने विवाह की आवश्यकता एवं उसके औचित्य को चुनौती दी है—

सामाजिक स्वीकृति विवाह-बंधन
भू विकास स्थितिक्रम में आवश्यक,
किन्तु न वह रस शुद्ध कामना का
शुभ्र प्रीति परिणय का परिचायक !
भोग लालसा की अनुमति भर वह,
युग्म कक्ष में बद्ध भावना-गति,–
अंध काम के आवेगों से प्रेरित
कृमियों सी रेंगती मनुज संतति !

प्राणशक्ति दुर्जेय-ग्रंथि बंधन
भाव मुक्ति हित बने नहीं बंधन;
सर्व प्रीति के सित पंखों में उड़
मनुज प्रकृति कर सके ऊर्ध्व रोहण ।

पंत ने अपनी इस रचना में अपने नैतिकता निरपेक्ष दृष्टिकोण की पुष्टि अपनी शब्दावली से भी की है। योनि, भग, शिश्न आदि शब्दों की बहुशः आवृत्ति इसका प्रमाण है।

नैतिकता-निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप कवि अपनी इस कृति में संभोग का ऐसा अनुभूतिपरक चित्रण उपस्थित कर सका है जो कालिदास जायसी और बिहारी की एतद्विषयक उक्तियों को पीछे छोड़ देता है। बिहारी की दृष्टि तो अनुभावों तक ही रह जाती है किन्तु पंतजी की दृष्टि अन्तर्मुखी अर्थात् अनुभूति-प्रवण है। इसीलिए वे यह चित्र दे सके हैं—

स्फीत ज्वार में गिर ज्यों फूल युगल
ऊभ-डूभ करते गति जब ताड़ित
प्राण सिंधु में तृणवत् यो देहें
तिरतीं तन्मय, मुग्ध आत्म विस्मृत !
वज्र स्तम्भ सी थीं बलिष्ठ जांघें
तिग्म काम ज्वाला से परिवेष्टित
उमड़ अचेतन से प्रमत्त लहरें
दृप्त भुजंगों सी लगतीं नर्तित !
तडित्पात होता रस का दुर्धर
अग्निशूल सा धँसता उर भीतर
शत सहस्र अहि दंशों से विह्वल
प्राण खोजते शीतल मरकत सर !

लोकायतनकार आद्यंत मूल्यों और विचारों के उपस्थापन में व्यस्त रहा है। फलतः उसकी रचना अभिधात्मक व्याख्यान से अधिक कुछ नहीं बन सकी है। कथागत परिस्थितियों और पात्रगत मूल्यों की अन्तक्रिया के माध्यम से यदि कवि ने अपने इन विचारों को व्यंजित किया होता तो शायद वे प्रभावशाली बन सकते थे; किन्तु ऐसा न होने से उनमें ऊबा देने वाली एकरसता से पाठक खिन्न हो जाता है।

कथा का सहारा कवि ने बहुत कम लिया है और जहाँ लिया भी है वहाँ घटनाओं के स्थान पर उनके प्रति अपनी टिप्पणियाँ देना कवि को अभीष्ट रहा है। इसलिए स्वतंत्रता संग्राम की कथा के प्रसंग में कवि ने तत्कालीन घटनाओं पर अपनी टिप्पणी ही अधिक दी है—

सन् सत्तावन का विप्लव था
लोक द्रोह से प्रेरित, निश्चित
वन दावा सा फैल, बुझाने
जन भू बल तब था न संगठित!
सामंती उच्छ्वास रहा यह
राष्ट्रिय आदर्शों से विरहित
आंग्लों की बर्बरता अब तक
कुलिश नोंक से उर में अंकित!

पात्रों का चरित्र उभरने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि कवि ने पहले ही ईमानदारी के साथ कह दिया है—"इसके चरित्र केवल मानव-चेतना के पालकीवाहक भर हैं" और इसीलिए वे व्यक्तित्व-शून्य भी हैं।

रस की चर्चा इस ग्रंथ में बहुत है, किन्तु उस रस का सम्बन्ध उर्ध्वचेतन के उस आनंद से है जिसकी अनुभूति अरविन्द जैसे महर्षियों को ही होती है। काव्यरसिकों को इस ग्रंथ से निराशा ही होगी। यद्यपि इसके बीच-बीच में कुछ बड़े ही रमणीय अंश उसी प्रकार विकीर्ण हैं जिस प्रकार रेगिस्तान में नखलिस्तान, तथापि उन तक पहुंचने को धैर्य और साहस अपेक्षित है। उन रमणीय अंशों का आनन्द लेने के लिए इस विशाल ग्रंथ को पढ़ना सचमुच बहुत महंगा पड़ता है।

फिर भी उनकी सत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती। विशेष रूप से प्रकृति वर्णन के अवसर पर पंत का कवित्व उमड़ पड़ता है। चार-पांच स्थानों पर कवि ने प्रकृति वर्णन किया है और उन सभी स्थानों पर वह बेजोड़ है। यहां एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कथा-नायक जब पृथ्वी के सौन्दर्य का अनुभव करता है तब उसे जो दृश्य दिखलाई देता है उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

खोल फूलों की गोरी बांह
मालती की लिपटी थी बेल
उतर गंगा जल में सौ चांद
सलिल में छिप छिप करते खेल!

चांदनी में भाता सुकुमार
रोम हर्षित सा हरसिंगार,
तारिकाओं सी नभ से कूद
कुंद कलि करती भू अभिसार

शब्दों की बहुशः आवृत्ति और निश्चित सी वाक्य-रचना तथा आदेशपरक क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप भाषा शिथिल है। चित्, रस, सित, स्वर्ण तथा उसके पर्याय शब्दों, ऋतु, नव, अन्तः अथवा अन्तर, संस्कृत, भू, नव, नव्य, नवीन आदि शब्दों की बुरी तरह आवृत्ति हुई है। भाषा का स्तर प्रायः बोधात्मक (Conceptual) रहा है। उसके बावजूद कहीं-कहीं लाक्षणिक मूर्तमत्ता तथा लाक्षणिक वक्रता का चमत्कार पाठक को प्रभावित करता है-उदाहरण के लिए वे पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं जहां कथा की एक पात्री धो नारी-जीवन के सम्बन्ध में सोच रही है—

सोच रही थी यह 'क्यों स्त्री के
आंखों में नित खारा पानी,
दुख ने मूर्ति गढ़ी हो उसकी
आँसू ने हो लिखी कहानी।'

'वास्तवता' का अशुद्ध प्रयोग इस काव्य में बहुत हुआ है। एक स्थान पर 'चित्रकार' शब्द भी आया है जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। अप्रस्तुतों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इस सम्बन्ध में कवि ने काफी संयम से काम लिया है। कहीं-कहीं सायास नवीन अप्रस्तुतों की योजना की गई है जो प्रयासित होने पर भी रोचक हैं। संध्या वर्णन के प्रसंग में कवि ने एक ऐसा चित्र दिया है जो संध्या की मूर्तता और अप्रस्तुतों की नवीनता दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है—

बटी धूम रेखा रस्सी सी
टँगी क्षितिज पर लगती सुंदर,
पार्श्वचन्द्र झांकता पार से।
सित कपोत सा बैठा तरु पर!
हा हा करते स्यार आर्तरव
शंख घंट बजते मंदिर में
विदा मित्र से हो जब वंशी
लौटा निज एकांत अजिर में।

इस विशाल ग्रंथ के द्वारा कवि ने हमें जो दिया है वह है एक यूटोपिया, एक कल्पना-लोक। यह कृति उज्ज्वल भविष्य की मंगलाशा से आपूरित है। भविष्य की जो कल्पना कवि ने यहां की है उसे सर्वथा नूतन नहीं कहा जा सकता। पश्चिमी विचारकों के प्रकृति-प्रत्यावर्तन (Back to Nature) का सिद्धान्त कवि पंत ने लोकायतन में एक बार पुनः दोहराया है—

अब सहज स्फुरित जगता प्रबोध
भावोन्मेषित कर उसका मन,
बातें करते उससे तृण तरु,
गाथाएं कहता गूढ़ गगन!
उद्‌भासित हो उठते सहसा
अंतर में गहन रहस्य मौन,
जाने किस स्वर लिपि में अंकित
कर देता उर में सत्य कौन!
गिरि क्षितिजों की हसमुख कोंपल
भरती मन में बहुरंग मर्मर
तद्‌गत निसर्ग से जाने क्या
संभाषण करता वह निःस्वर!
घन कुंतल फैलाए वन में
लेटी तरु छाया रहती मन,—
गृह हीन प्रकृति हो मांग रही
मानव से जीवन-संरक्षण

Back to Nature के अतिरिक्त पंत के इस यूटोपिया में भौतिकता-आध्यात्मिकता का समन्वय है। अन्तर्राष्ट्रिय सद्‌भाव है: वैयक्तिक क्षुद्रता और वर्गभेद का अभाव है और जीवन नैतिकता से निरपेक्ष है। शारीरिक स्तर से आत्मिक स्तर तथा व्यक्ति से लेकर समष्टि तक प्रेम की व्याप्ति है। सैनिक शक्ति के समापन और अणु के शांतिमय उपयोग की कल्पना भी इस यूटोपिया में है।

उपर्युक्त आदर्शों से अनुप्राणित, किन्तु गतिहीन कथानक व्यक्तित्वहीन पात्र, नारेबाजी से परिपूर्ण संवादों तथा नीरस पद्यों से युक्त इस विशाल ग्रंथ को महाकाव्यत्व का अधिकारी कैसे समझा जा सकता है? कवि स्वयं इस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं जान पड़ता अन्यथा उसे अपनी ओर से इसे महाकाव्य कहने की आवश्यकता नहीं

होती। हमारे विचार से इसे भविष्य-कल्पना का पद्य-बद्ध व्याख्यान कहना ही उचित प्रतीत होता है।

आत्मजयी

कामायनी के अनुवर्ती काव्यों में कुंवर नारायण का 'आत्मजयी' सर्वथा विशिष्ट और सर्वाधिक आधुनिक है—आधुनिक इस अर्थ में कि इसमें जीवन-चिन्तन अत्याधुनिक दृष्टि से सम्पन्न है और उसकी अभिव्यक्ति का स्वर भी सर्वाधिक नूतन है।

उर्वशी या लोकायतन के कवियों के समान कुंवर नारायण ने ऐसा कोई संकेत नहीं छोड़ा है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इसकी रचना के मूल में (उर्वशी और लोकायतन के समान) कामायनी की कोई प्रतिक्रिया है; फिर भी कामायनी के अनुवर्ती काव्यों की सूची में इसे स्थान देने का कारण यह है कि कामायनी और आत्मजयी की केन्द्रीय समस्याओं में प्रचुरांश में साम्य है। कामायनी की केन्द्रीय समस्या विनाश और विभीषिका के मध्य जीवन का निर्वाह करने की है। परिवेश और व्यक्ति की सतत विसंगति की समस्या को तो अधिक अवकाश नहीं मिला है, किन्तु जीवन की सार्थकता का प्रश्न उसमें बड़े जोर से उठाया गया है—वैसे ही जैसे कामायनी के आरम्भिक सर्गों (चिन्ता, आशा, श्रद्धा) में। जिस प्रकार कामायनी के मनु प्रलय के बाद जीवन की आस्था से शून्य हो जाते हैं और प्रलय के अवसान के साथ उनमें जीवन की नई चेतना का उदय होता है जिसको श्रद्धा दृढ़ करती है, उसी प्रकार आत्मजयी का नचिकेता पुरानी पीढ़ी के विरुद्ध नई पीढ़ी के विद्रोह का झंडा खड़ा करता हुआ मृत्यु की विभीषिका की बात सोचता है और तभी अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न उसके सम्मुख आता है—

अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है
एक पाशविक भावना भी—इस तरह
कि युद्ध और कलह जरूरी लगे,
स्वार्थ और छल से जीना मजबूरी लगे।
यदि यथार्थ है मृत्यु भी
तो मृत्यु ही यथार्थ हो जा सकती है
इस तरह कि वह जीवन पर छा जाये
और हम उसे रोज के व्यवहार में बोलें, दिखायें फैलायें...!
एक स्तर पर
विद्वेष, क्रूरता, हिंसा, बेईमानी

सब कुछ इतना संभव है कि स्वाभाविक लगे,—
और उसी स्तर पर हममें से हर एक जी सकता है
पागलों की तरह
एक दूसरे से त्रस्त, पीड़ित और अपमानित !

नचिकेता का यह प्रश्न अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के निकट है। "अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रारम्भ होता है मनुष्य की अवश तथा निरुपाय स्थिति से। मानव-जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप, सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु है। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। मनुष्य इसके लिए कुछ कर नहीं सकता और यहीं वह देखता है कि उसे वरण (choose) करने की स्वच्छंदता नहीं है। अतः उसे अत्यन्त कम समय में अपने व्यक्तिगत जीवन को एक अर्थ देना है।

नचिकेता जीवन का प्रत्यक्ष इसी अस्तित्ववादी रूप में करता है। अस्तित्व और मृत्यु के बीच लटके हुए मनुष्य के रूप में वह अपने आपको देखते हुए अस्तित्व के खोखलेपन की वेदना से आहत होता है—

खोखला दर्द
गहरा विराग
बस, 'होने' भर का थका ज्ञान
अनुभूतिहीन
यह उतरे हुए नशे-सा जीवन वियावान।

\+ \+ \+

अपने विश्वासों के कन्धों पर खड़ा हुआ
जीवन का एक हताश बिन्दु
चेतना-केन्द्र, चिन्तित मनुष्य
भयभीत अधर में टँगा हुआ,
अस्तित्व-मरण के अधरों से
कुछ बचा हुआ, कुछ लगा हुआ...

उपर्युक्त पंक्तियों में कुँवर नारायण ने मृत्यु के समक्ष मनुष्य की लाचारगी, निरुपाय स्थिति को अंकित किया है। कामायनी के चिन्ता सर्ग में भी ऐसा ही हुआ है, किन्तु उसका स्वर भिन्न है। कामायनी में मृत्यु या विनाश का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसके भय से मुक्ति का। नचिकेता मरता नहीं, केवल मरण-भीति का अनुभव (स्वप्न में) करता है—

जैसे कोई सौ गुना बली
चढ़कर छाती पर खींच रहा हो प्राणों को
लेकिन प्राणी जीवन की अन्तिम शक्ति लगाकर लड़ता हो;
जैसे कोई बेदम पंछी साहस तोड़े
अपने को केवल अंधकार पर छोड़े जीता मरता हो !
सहसा नीचे कठोर धरती की चोट नहीं
शीतल जल की कोमल गहराई पा जाये।
मानो भय चरम व्यथा हो—मृत्यु नहीं, वह तो
केवल कोई अद्भुत विराम-सा आजाये।

यह मरण-भीति ही है जिसके कारण अतीत और भविष्य दोनों विरूप और मृत्यु-प्रतीक दिखलाई देते हैं। अतीत इस बात का साक्षी है कि मृत्यु सर्वग्रासी है—

वे जो थे,
और हजारों तरह थे,
और जो बराबर होते रहे,
लेकिन जो होने के अलावा
और कुछ नहीं थे···उनकी भी मृत्यु है
जिन्हें क्षणों की तरह जोड़-जोड़कर
अथाह समय पीता है

और इस दृष्टि से अतीत के स्मारक मृत्यु के स्मारक दिखलाई देते हैं—

ये स्मारक
अपनी बृहत्तर आयु में मानो
एक नहीं कई, मौतों का कठिन दर्द सह रहे।

तथा भविष्य विनाशमय दिखलाई देता है—

समय के केंचुल सरीखा रास्ता।
मार कर खाया हुआ-सा पड़ा
चारों ओर खाली नगर-पंजर···
लुंज दीवारें—
सहारे

धागा भर
बहुत दूर जाकर शेष एक ज्योति-पुंज
अंकुर-सा

हमारा आज का जीवन युग-युगों की साधना का परिणाम है। हमारा वर्तमान अतीत की विरासत के साथ आरंभ होता है और अतीत वर्तमान में जीवित रहता है—मरता नहीं। इस प्रकार कर्मों की उपलब्धि नष्ट नहीं होती—काल की निरंतरता के साथ जीवित रहती है—

वह जूठन ही सही
हमने जिसे पाया है,
किन्तु वह प्रसाद है
देवतुल्य पितरों का अमर आशीर्वाद……
अनुक्षण जिस ताजी अनुभूति में
उनके आचारों को
हम धारण करते हैं
उनके संस्कारों को
हम संचित रखते हैं।

डरी; सिकुड़ी पड़ी
कुछ परछाइयाँ

रात—
ये भग्नावशेष
चाँदनी के कफ़न में लिपटे हुए-से
किसी गै.वी मंत्र के आघात से मानो
हज़ारों साल गहरी नींद में कुछ बड़बड़ाते

ऐसी भयपूर्ण स्थिति में जहाँ सम्पूर्ण अस्तित्व की
लग जाता है, नचिकेता को अस्तित्व की अर्थमत्ता का
ही अस्तित्व का मूल्य समझा जाता है—

यदि पीना ही हो ज़हर
उसे दो तरह पिया जा सकता है—
डरते-डरते
मरने से पहले ही मरकर।
या उसी चरम भय से
कोई अन्धा बल पा,
जीवन से भी ऊपर उठकर···
तुझ को अपनी
घोरतम निराशा से ही बल लेना
मृत संस्कारों से अपना जीवन
उस खालीपन को नया अर्थ देना०

अस्तित्ववाद का उद्गम अवसाद और नि...
परिणति दुर्दम कर्म-प्रेरणा के रूप में हुई है।
इतने कर्मण्य बौद्धिक आन्दोलन को प्रेरित किया
में अस्तित्ववाद "जीवन को निरुपाय, अवश तथा नि...
अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करता है।" आत्मजयी का
की आवश्यकता का अनुभव करता है—

एक दृष्टि चाहिए मुझे—
जीवन बच सके

अँधेरा होने से,–बस ।

जीवन-मूल्य की शोध करते हुए उसे यह भान होने लगता है कि—

सुख, सुविधा, विश्राम··· नहीं
कुछ और ध्येय है।
कभी-कभी लगता
यह जीवन अपरिमेय है,
समा नहीं पाता जो दैहिक स्वप्न परिधि में ।

अस्तित्व की सार्थकता कर्मण्यता में है—

कर्मठ मानव के उपाय से
खनिज परिस्थितियाँ जीवन की
दिव्य रूप हो सकती हैं

इस प्रकार मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्ति मिल जाती है, वह मृत्यु के मुख से मुक्त (मृत्यमुखात्प्रमुक्त) हो जाता है। तब उसे कुछ क्षणों के जीवन की निरंतरता अतीत और वर्तमान तक दिखलाई देती है। वर्तमान में जीने वाले को अपना अस्तित्व पूर्व परम्परा से सम्बद्ध दिखलाई देने लगता है जैसे कि नचिकेता को—

जैसे वह अंग हो प्रतिहत वाजश्रवा का
अभी भी, कटकर जो मरा नहीं,
मूल की तड़प से तड़पता हो !
और आगे
पिता तुल्य कुछ परिचित आकृतियाँ
और आगे
रुकी हुई भावहीन मुद्राएँ
चेहरे
विलीन
एक सूनापन चेहरों-सा
मानव—कुटुम्ब
एक धागे में—

डरी; सिकुड़ी पड़ी
कुछ परछाइयाँ

रात—
ये भग्नावशेष
चाँदनी के कफ़न में लिपटे हुए-से
किसी ग़ैबी मंत्र के आघात से मानो
हजारों साल गहरी नींद में कुछ बड़बड़ाते···

ऐसी भयपूर्ण स्थिति में जहाँ सम्पूर्ण अस्तित्व की सार्थकता के समक्ष प्रश्न-चिन्ह लग जाता है, नचिकेता को अस्तित्व की अर्थमत्ता का बोध होता है। मृत्यु की भीति ही अस्तित्व का मूल्य समझा जाती है—

यदि पीना ही हो जहर
उसे दो तरह पिया जा सकता है—
डरते-डरते
मरने से पहले ही मरकर।
या उसी चरम भय से
कोई अन्धा बल पा,
जीवन से भी ऊपर उठकर···
तुझ को अपनी
घोरतम निराशा से ही बल लेना होगा
मृत संस्कारों से अपना जीवन खालीकर
उस खालीपन को नया अर्थ देना होगा।

अस्तित्वाद का उद्‌गम अवसाद और निराशा से ही हुआ है और उसकी परिणति दुर्दम कर्म-प्रेरणा के रूप में हुई है। "यह सचमुच एक विचित्र तथ्य है कि इतने कर्मण्य बौद्धिक आन्दोलन को प्रेरित किया अवसाद तथा निराशा ने।" वास्तव में अस्तित्ववाद "जीवन को निरुपाय, अवश तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करता है।" आत्मजयी का नायक भी इस अर्थ की खोज की आवश्यकता का अनुभव करता है—

एक दृष्टि चाहिए मुझे—
जीवन बच सके

अँधेरा होने से,–बस।

जीवन-मूल्य की शोध करते हुए उसे यह भान होने लगता है कि—

सुख, सुविधा, विश्राम···नहीं
कुछ और ध्येय है।
कभी-कभी लगता
यह जीवन अपरिमेय है,
समा नहीं पाता जो दैहिक स्वप्न परिधि में।

अस्तित्व की सार्थकता कर्मण्यता में है—

कर्मठ मानव के उपाय से
खनिज परिस्थितियाँ जीवन की
दिव्य रूप हो सकती हैं

इस प्रकार मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्ति मिल जाती है, वह मृत्यु के मुख से मुक्त (मृत्यमुखात्प्रमुक्त) हो जाता है। तब उसे कुछ क्षणों के जीवन की निरंतरता अतीत और वर्तमान तक दिखलाई देती है। वर्तमान में जीने वाले को अपना अस्तित्व पूर्व परम्परा से सम्बद्ध दिखलाई देने लगता है जैसे कि नचिकेता को—

जैसे वह अंग हो प्रतिहत वाजश्रवा का
अभी भी, कटकर जो मरा नहीं,
मूल की तडप से तडपता हो!
और आगे
पिता तुल्य कुछ परिचित आकृतियाँ
और आगे
रुकी हुई भावहीन मुद्राएँ
चेहरे
विलीन
एक सूनापन चेहरों-सा
मानव—कुटुम्ब
एक धागे में—

एक कलाकार ईश्वर की तरह
अथाह समय में जियूँ —

यह दृष्टिकोण कामायनी के जीवन-दर्शन का विलोम है। कामायनी में व्यक्ति-सत्ता की इस प्रकार की प्रबलता का सर्वत्र निषेध किया गया है और व्यष्टि-समष्टि के मध्य सतत सामंजस्य की शोध की गई है। कामायनी के कवि को अस्तित्व को अर्थ देने की चिन्ता नहीं है क्योंकि वह तो एक अन्तः प्रेरणा के रूप में स्वयं सिद्ध है। है। समस्या तो पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह की है जो व्यक्ति-चेतना की प्रबलता से उत्पन्न होती है। कामायनीकार ने जिसे समस्या के रूप में देखा है उसे ही आत्मजयी के कवि ने समाधान के रूप में उपस्थित किया है!

कामायनी की जैसी प्रतीकात्मकता और सांकेतिक वक्रता भी आत्मजयी में नहीं है। अधिकांशतः विचार-कथन ही यहाँ दिखलाई देता है—विचारों की व्यंजना नहीं होती है। कथन में बिम्बों का उपभोग भरपूर किया गया है, किन्तु उनमें संश्लिष्टता नहीं है। कामायनी की तुलना में आत्मजयी का कथा-पट बहुत छोटा है। इसलिए उसके जीवन-बोध में वैसी व्यापकता दिखलाई नहीं देती जैसी कामायनी के जीवन-बोध में। व्यापकता की दृष्टि से आत्मजयी का जीवन-बोध खंडकाव्योचित ही है जबकि कामायनी का जीवन-बोध महाकाव्योचित है।

धागा भर
बहुत दूर जाकर अशेष एक ज्योति–पुंज
अंकुर–सा

हमारा आज का जीवन युग-युगों की साधना का परिणाम है। हमारा वर्तमान अतीत की विरासत के साथ आरंभ होता है और अतीत वर्तमान में जीवित रहता है—मिटता नहीं। इस प्रकार कर्मों की उपलब्धि नष्ट नहीं होती—काल की निरंतरता के साथ जीवित रहती है—

यह भूठन ही सही
हमने जिसे पाया है,
किन्तु वह प्रसाद है
देवतुल्य पितरों का अमर आशीर्वाद····
अनुक्षण जिस ताज़ी अनुभूति में
उनके अवदानों को
हम धारण करते हैं
उनके संस्कारों को
हम जीवित रखते हैं।

अतीत से चला आया जीवन निर्माण के माध्यम से वर्तमान से होता हुआ भविष्य तक जाता है। मनुष्य का जन्म और मरण उसके वश में नहीं है। नियति, ईश्वर या कुछ और जिस किसी के हाथ में जन्म–मरण हो सकता है, फिर भी मनुष्य सर्वथा अवश नहीं है। यह समझना भ्रांति है—

कि जो कुछ हो जाता है—हम उसको करते हैं,
जो कुछ सहजाता है—हम उसको सहते हैं····

कर्म और निर्माण मनुष्य के वश की बात है और इसी के द्वारा वह भविष्य में जी सकता है—

इस विभ्रम से विशिष्ट
एक और दुनिया है
केवल निर्माता की
जिसमें हम बार–बार नये जन्म लेते हैं :

झुठलाये जीवन को फिर साबित करते हैं :
कोरे भविष्यों को संस्कार देते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर अस्तित्व की अनश्वरता, निरंतरता और व्यापकता का बोध होता है। निर्माण के माध्यम से क्षण-जीवी मनुष्य अपने अस्तित्व की सनातनता का अनुभव कर सकता है। "इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टि में प्रत्येक क्षण का अतुलनीय महत्त्व है।" मरण-भीति से मुक्त होकर मनुष्य अपने अस्तित्व के इस विराट् रूप के दर्शन कर सकता है—

सम्पूर्ण बोध
हो चुका काल को जो अर्पित
जीवन में वापस आया
वह शोधित प्रसाद,
मैं
सभी दिशाओं में प्रतिक्षण
उत्पन्न
विभासित
आरंभित
अनुसृष्ट नहीं—स्रष्टा स्वरूप
लाखों निर्माणों में गलता-ढलता
कोई अव्यय भविष्य ··
मैं जाग्रत हूँ—
मैं जाग्रत हूँ—

यह जागृति ही अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का ध्येय है। "अपनी समग्र अवशता में मनुष्य ही अस्तित्ववादी चिन्ता का केन्द्रबिन्दु है। और इस अवशता को नष्ट करने के लिए अस्तित्ववाद मानवीय स्वातंत्र्य का प्रबल समर्थक है।" मानवीय मुक्ति की यह भावना आत्मजयी में पहले बौद्धिक दासता, पुरानी पीढ़ी की रूढ़िवादिता और परम्परागत आस्तिकता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रकट होती है और अन्ततः मृत्यु-भय के विरुद्ध विद्रोह करती है क्योंकि मानव-अस्तित्व की सार्थकता के लिए सबसे बड़ी चुनौती मृत्यु ही है। आत्मजयी का नायक अन्ततः इस चरम भय से मुक्ति पा जाता है। तब उसे अस्तित्व के वास्तविक मूल्य का बोध होता है।

इस स्थिति तक पहुंचने पर आत्मजयी का जीवन-दर्शन आत्यंतिक रूप से व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन हो है क्योंकि वह "परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है। इस विचार-पद्धति में जीवन की समस्याओं पर विचार भुक्त-भोगियों की ओर से होता है।" और इसके अनुसार मनुष्य को "अपने व्यक्तिगत

जीवन को एक अर्थ देना है।" इसी प्रयास में आत्मजयी का नचिकेता घोर वैयक्तिकता का प्रतिपादन करता है—

महाशून्य में निर्वासित,
अपने ही सपनों को बनाता, मिटाता,
घातक श्रद्धाओं बीच—
नैसर्गिक !
अनुपम !
अद्वितीय !
···अपने को हमेशा के लिए
सुरक्षित करलूँ
दूसरों के सरल आश्वासनों और फूहड़ पहिचानों से
मैथुन
मैत्री
ममत्व
महत्त्वकांक्षाएँ··
क्योंकि इनके अंत तक आकर भी
पूर्ण नहीं हुआ
क्योंकि इनके पूर्वनिश्चित परिणामों में
घटित होकर भी मरा नहीं
बार-बार अक्षुण्ण लौट आया हूँ।

इस आत्यंतिक वैयक्तिक दृष्टिकोण के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण संसार भी नचिकेता की दृष्टि में एक वैयक्तिक बोध से अधिक कुछ नहीं रह जाता—

यहाँ तक कि सारा संसार
मेरी दृष्टि में
सिकुड़कर तिल बराबर रह जाय,
और इसे जब चाहूँ मूँद कर
अँधेरे में घोल दूँ।—
स्वयं अदृष्ट
इसी माया-वस्तु को
बार-बार धारण करूँ; इसी भोग सामग्री को ग्रहण करूँ—
इससे छूटा रह कर।
अपनी अपूर्व रचना में

एक कलाकार ईश्वर की तरह
अथाह समय में जियूँ—

यह दृष्टिकोण कामायनी के जीवन-दर्शन का विलोम है। कामायनी में व्यक्ति-सत्ता की इस प्रकार की प्रबलता का सर्वत्र निषेध किया गया है और व्यष्टि-समष्टि के मध्य सतत सामंजस्य की शोध की गई है। कामायनी के कवि को अस्तित्व को अर्थ देने की चिन्ता नहीं है क्योंकि वह तो एक अन्तः प्रेरणा के रूप में स्वयं सिद्ध है। है। समस्या तो पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह की है जो व्यक्ति-चेतना की प्रबलता से उत्पन्न होती है। कामायनीकार ने जिसे समस्या के रूप में देखा है उसे ही आत्मजयी के कवि ने समाधान के रूप में उपस्थित किया है!

कामायनी की जैसी प्रतीकात्मकता और सांकेतिक वक्रता भी आत्मजयी में नहीं है। अधिकांशतः विचार-कथन ही यहाँ दिखलाई देता है—विचारों की व्यंजना नहीं होती है। कथन में बिम्बों का उपभोग भरपूर किया गया है, किन्तु उनमें संश्लिष्टता नहीं है। कामायनी की तुलना में आत्मजयी का कथा-पट बहुत छोटा है। इसलिए उसके जीवन-बोध में वैसी व्यापकता दिखलाई नहीं देती जैसी कामायनी के जीवन-बोध में। व्यापकता की दृष्टि से आत्मजयी का जीवन-बोध खंडकाव्योचित ही है जबकि कामायनी का जीवन-बोध महाकाव्योचित है।

संदर्भ-ग्रंथ

१. जयशंकर 'प्रसाद'—कामायनी—(एकादश संस्करण, सं० २०१८
२. जयशंकर 'प्रसाद'—काव्य और कला तथा अन्य निबंध
३. डॉ. नगेन्द्र—कामायनी के अध्ययन की समस्याएं
४. डॉ. फ़तहसिंह—कामायनी-सौन्दर्य
५. डॉ. रामलालसिंह—कामायनी-अनुशीलन
६. डॉ. यतीन्द्र—कामायनी-दिग्दर्शन
७. अम्बिका प्रसाद सक्सेना—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन
८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास
९. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य
१०. नारायण शास्त्री द्राविड (सं०)—भारतीय मनोविज्ञान
११. हलायुध कोष
१२. रामचन्द्र वर्मा—प्रामाणिक हिन्दी-कोष
१३. रामधारीसिंह 'दिनकर'—उर्वशी
१४. सुमित्रानन्द पंत—लोकायतन
१५. सिगमंड फ्रायड—मनोविश्लेषण (अनु. देवेन्द्र कुमार वेदालंकार)
१६. कुंवर नारायण—आत्मजयी
१७. धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष भाग १
१८. Apte's Sanskrit Dictionary.
१९. S. Freud—New Introductiory Lectures on Psychoanalysis.
२०. C. G. Jung—Psychological Types.
२१. C. G. Jung—The Undiscovered Self.
२२. W. McDougall—Social Psychology
२३. George Thunbull Lodd—Philosophy of mind.
२४. A. Adler—Understanding Human Nature.
२५. Lewis way—Adler's Place in Psychology.
२६. R. S. Woodworth—Contemporary Schools of Psychology.

——:o:——